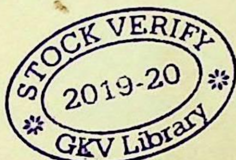
राजनीति-विज्ञान

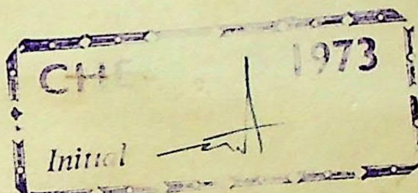
श्री विनयेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय
श्री केशरीकान्त शर्मा

the Author Shri Deneyendranath Bandopadhyay
18/4 B, Dover Lane
Calcutta 29

राजनीति-विज्ञान

इन्द्र विद्यावाचस्पति
चन्द्रलोक, जवाहर नगर
दिल्ली द्वारा
गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय को
भेंट



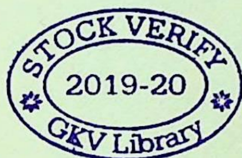






राजनीति-विज्ञान

श्री विनयेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय एम. ए.
श्री केशरीकान्त शर्मा एम. ए., बी. एल.





विश्वभारती
६/३ द्वारकानाथ टैगोर लेन, कलकत्ता – ७

प्रकाश १९३६

द्वितीय संस्करण १९५१

मूल्य २)

प्रकाशक : श्री पुलिनविहारी सेन

विश्वभारती, ६/३ द्वारकानाथ टैगोर लेन, कलकत्ता – ७

मुद्रक : श्री हजारीलाल शर्मा, जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता – ७

सूचीपत्र

भूमिका

अभी कल ही भारत के राष्ट्रपति महामान्य डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी ने निश्चित भाव से सुदृढ़ घोषणा की है कि ता० २६ जनवरी १९५० को जिस जनतन्त्र स्वायत्त शासन की प्रतिष्ठापना हुई है, उसकी मौलिक भित्ति, भारतीयों के विचार एवं व्यवहार दोनों में ही अत्यन्त प्राचीन युग से प्रतिष्ठापित चली आती है ; और जिसका प्रमाण शिरकाब्द ८०० वर्ष ई० पू० के महनीय ग्रन्थ बृहदारण्यक उपनिषद में सुप्रसिद्ध वचनांश रूप में प्राप्य है :

"सर्वेश्वर (महाप्रभु) ने एक सर्वश्रेष्ठ धर्म्म (नीति) की रचना की, यह धर्म (नीति) ही राजाओं का राजा और शासकों का शासक है और इस धर्म से बड़ा अथवा महान कोई नहीं है।"

महाभारत में राजगद्दी के समय की राजप्रतिज्ञा (राजशपथ) का निम्नलिखित शेषांश कितना स्पष्ट है : "यहाँ जो-जो नीतिधर्म निर्द्धारित हैं, जो-जो विवेक अथवा औचित्य ज्ञान से सम्पादित होंगे, तथा जो-जो राजनीतिज्ञता के लिए सर्वोत्तम होंगे—मैं वही-वही निर्विकल्प रूप से प्रतिपादन करूँगा और स्वेच्छाचारी तो कदापि नहीं बनूंगा।"

१९वीं शदी के ब्रिटेन की वस्तुस्थिति की तुलना करने पर एकाधिपत्य काल में भी मन्त्रिसंसद के ऊपर उत्तरदायित्व की आवश्यकता के महत्त्व की गुरुता तो भारतीय समुन्नत विचार का निचोड़ बहुत पहले से ही समझा जाने लगा था।

खृष्टाब्द के द्वितीय शदी के लगभग की मनुसंहिता में ही स्पष्ट व्यवस्था मिलती है कि राजा अपने राष्ट्रव्यवस्था के अशेष विषय पर वाद-विवाद एवं विचार विमश के लिये मन्त्रिमण्डल का संगठन अवश्य करे।

खृष्टाब्द के १२वीं शदी के नीतिग्रन्थ शुक्रनीति में (जिसमें उस समय से बहुत पहले समय के नियम एवं सिद्धान्त भी समुद्धृत हैं) निम्नलिखित आदेश स्पष्ट रूप से समुद्धृत पाया जाता है :

"राजा चाहे स्वयं कितना ही राष्ट्रव्यवस्था में प्रवीण हो एवं सारे शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता ही हो, तौभी अपने मन्त्रिमण्डल के बिना अपने राष्ट्र-शासन सम्बन्धी विषयों का विचार, विधान तथा व्यवस्था अकेले स्वयं कदापि न करे। एक प्रवीण राजा को सदा अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों अथवा महामन्त्रियों की राय अवश्य ही माननी चाहिये। वह उद्दण्ड, स्वतन्त्र अथवा एकमात्र अपनी राय पर कदापि निर्भर न होवे। शासक जब ही स्वतन्त्र अथवा उद्दण्ड हो जाता है, तभी अपने विनाश की नीव डालता है; और कालान्तर में वह अपने राष्ट्र का विनाश कर प्रजा से भी हाथ धो लेता है।"

भारतीय नीति का सबसे प्रमुख स्वरूप तथा भारत के सांस्कृतिक बरासत (उत्तराधिकार) की रक्षा का प्रधान कारण—बहुव्यापक तथा सुसम्पन्न भारतीय ग्राम्य पञ्चायत व्यवस्था ही थी।

विश्ववन्द्य महात्मा गांधी ने भी इसी ग्राम्य स्वायत्त शासन को ही स्वाधीनता प्रासाद की नीव माना है। उन्होंने लिखा है कि—"स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव मूल से ही हो।'

इस प्रकार प्रत्येक गांव एक शुद्ध राष्ट्र अथवा एक पञ्चायती शासन होगा।

अनेक ऐतिहासिक तो यहाँ तक कहते हैं कि चिरकालीन भारतीय ग्राम्य व्यवस्था ही अनेक वैदेशिक आक्रमणों के बाद भी भारतीय सांस्कृतिक जीवन की रक्षा में प्रमुख उपादान बनी है।

विधान-परिषद् का ४०वाँ अनुच्छेद कहता है :

"यह गणतन्त्र राष्ट्र ग्राम्य पञ्चायत के संगठन के लिए व्यवस्था करेगा, तथा उसे ऐसे अधिकार एवं शक्ति प्रदान करेगा जिनसे वे स्वायत्त शासन की इकाईरूप में अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से सम्पादन करने लगें।"

भारतीय इतिहासों में स्वायत्त शासन अथवा राष्ट्रीय व्यवस्था के अगणित प्रमाणों की प्रचुरता सर्वथा प्राप्य है। ग्रीक ऐतिहासिक मेगास्थनीज ने ई० पू० ४०० शताब्दि में भारत में पूर्ण विकसित गणतन्त्र शासन का स्पष्ट उल्लेख किया है।

अस्तु आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी को यह तो सदा ही स्मरण रखना ही चाहिये कि यद्यपि भारत में आधुनिक व्यवहार साम्प्रतिक तथा भविष्य में भी पाश्चात्य अनुभवों पर ही अवलम्बित रहेंगे ; परन्तु प्रत्येक भारतीय अन्तर्प्रेरणा तथा पथप्रदशन के लिये अपने प्राचीन साहित्य की ओर भी लाभान्वित होकर देख सकता है।

यही नहीं, अपितु मध्य युग में भी मुसलमान शासकों द्वारा अपनी आवश्यकताओं के लिये भी परम्परा प्राप्त प्राचीन भारतीय नीति, संस्थाओं की व्यवस्थायें, भारतीय संस्कार तथा संगठित ज्ञानोत्कर्ष का शासन में समावेश तथा आदान के प्रमाण मिलते हैं।

भारतीय इतिहास के आधुनिक अन्वेषक भी बताते हैं कि सिक्ख तथा

मरहठे एवं दक्षिण भारत के प्राचीन शासक भी इन प्राचीन भारतीय विशिष्ट शासन तथा सैन्य पद्धतियों का समुचित प्रयोग करते थे।

इस प्रारम्भिक प्रस्तावना प्रबन्ध से यदि विद्यार्थियों को इस विभाग में प्रधानतया भारतीय पद्धति से विशेष अध्ययन के लिये उत्तेजना अथच प्रेरणा मिल सकी, तो इसके लेखक को यथेष्ट प्रतिफल प्राप्त होगा। इसक ऐसा अध्ययन केवल अन्वेषकों का एकाधिकार तो होगा ही नहीं; क्योंकि राजनीतिक विकास के शक्ति संचालक में नवीन पद्धति तथा नवीन विधान का प्रादुर्भाव तभी हो सकता है, जब उसमें प्राचीन शिक्षा अथवा प्राचीन उपदेश को नवीनतम रूप में परिणत कर देने का अदम्य उत्साह भर दिया जाय। यद्यपि हमें अपना निर्णय स्वतन्त्र रूप से करना है फिर भी प्राचीन संरक्षणों तथा परम्परा प्राप्त विधानों से विमुख होकर वैयक्तिक अथवा जातीय प्रगति प्रकृत रूप में प्राप्त करना परम दुर्लभ होगा।

प्रथम संस्करण के समय सुप्रसिद्ध समाचार-पत्र सम्पादक स्वर्गीय सुधीर कुमार लाहिड़ी, महेश्वरी सिंह "महेश" तथा श्रीमान् ओंकार शंकर गुप्त का अनुपम सहयोग मिला था, और इस द्वितीय संस्करण में भी उनके यथेष्ट अवतरण संकलित हुए हैं, अस्तु उन महानुभावों का चिर आभारित्व सर्वथा सस्मरणीय रहेगा।

लेखक

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

"शासन-विधान में जनसाधारण का हस्तक्षेप करना समीचीन नहीं है। ऐसा कहना अन्याय तथा धृष्टतापूर्ण है, और ऐसी उक्ति केवल किसी दुराचारी शासक अथवा पराधीन दास के मुख से ही निकल सकती है। शासन विधान में जनसाधारण का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा कहना, जनसाधारण को अपने सुख-दुःख विषयक व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है, कहने के बराबर ही है अथवा जनसाधारण को अपने नंगे-ढंके, भूखे-अघाये, शिक्षित-अशिक्षित, बने-बिगड़े और सुरक्षा-अरक्षा व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है, कहने के बराबर है।" —केटो

नागरिकशास्त्र अथवा पौरशास्त्र

नागरिकशास्त्र ज्ञान का वह विभाग है, जिसमें मनुष्य के समाज के अथवा अन्य व्यक्ति के प्रति कर्त्तव्य का विधान विहित हो। नागरिक-शास्त्र नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकार का अध्ययन है। नागरिकशास्त्र इन दिनों अध्ययन का एक प्रमुख विषय अथवा अंग बन गया है। बहुत हाल तक यह शास्त्र अत्यन्त संकीर्ण वा सीमित भावना एवं प्रतिबन्धित विचार में प्रयुक्त होता था, और उस विषय के लेखकगण हाल तक साधारणतया नगरों तथा महानगरों के ही शासन-विधान अथवा उनके

नागरिकों के अधिकार एवं कर्त्तव्य के ही वर्णन किया करते थे। फलतः उस विषय के अधिकतर ग्रन्थ नागर-शासन के विज्ञान एवं उद्देशों के ही वर्णन से युक्त हैं।

किन्तु अब नागरिकशास्त्र का प्रयोग बड़े उदार तथा विस्तृत अर्थ में होने लगा है। उदाहरणतः आज नागरिकशास्त्र की परिभाषा बदल कर निम्नलिखित विस्तृत रूप में हो गई है—

"जो ज्ञान एवं विचार स्थानीय, राष्ट्रिय तथा जातीय शासन के ढंग, ढाँचा या प्रबन्ध-विधान से सम्बन्धित हों, जो जनतानुमोदित, स्थानीय, राष्ट्रिय तथा जातीय शासन-कार्य में रचनात्मक, बौद्धिक तथा स्वास्थ्यकर रूप से सहयोग-भावना में जनमन की प्रबल इच्छा का विकास करें; जो उस परिपाटी, क्रम तथा कारवाई का विकास करें, जिनसे प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति का शासन और सामूहिक सम्बन्ध में अधिकतम संख्या का श्रेष्ठतम इष्ट साधक हो; उन्हें नागरिकशास्त्र का ज्ञान कहेंगे।"

दूसरे शब्दों में

"नागरिक-शास्त्र, वह शास्त्र अथवा ज्ञान है, जिसमें स्थानीय, राजकीय तथा राष्ट्रिय शासन एवं विधान का स्वरूप एवं व्यवस्था हो, तथा जिसमें प्रजाप्रदत्त अधिकार-प्रतिपादन और जनसाधारण के स्थानीय, राजकीय एवं राष्ट्रिय शासन-व्यवस्था में रचनात्मक, विचारपूर्ण, सुदृढ़ सहयोग की भावना का बौद्धिक विकास हो, तथा जिसमें शासन की बहुसंख्यकों के अधिकतम लाभ तथा सामाजिक इकाइयों के दलगत सम्बन्ध की पद्धति तथा रीति की व्यवस्था हो।"

उपर्युक्त परिभाषा की व्याख्या निम्नरूप से विभाजित कर सकते हैं—

"नागरिक-शास्त्र, किसी नागरिक के जीवन तथा जीवन-सम्बन्धी सभी व्यवस्थाओं से सबन्ध रखता है ; और केवल कानून-विभाग अथवा शासन-व्यवस्था में ही सीमित नहीं होता। यह किसी नागरिक को केवल एक नगण्य मतदाता तथा शहरी सलाहकार ही नहीं समझता। किसी जिले के अन्तर्गत किसी समय समाज का व्यक्ति होने के कारण वह अपने जिले की भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा औद्योगिक आकृतियों, उसके विकासों, सम्भावनाओं तथा आकांक्षाओं से सम्बद्ध होता है। उसका स्वार्थ अपना तथा दूसरे के घर वो परिवार, अधिकार के शर्त, शहर अथवा गांव के सजाने, अपनी सन्तान की शिक्षा, अन्यान्य राष्ट्रों के बीच उसके देश की स्थिति, तथा भविष्य की अगणित समस्याओं से सम्बद्ध रहता है।" —ई० एम० ह्वाइट

नागरिकशास्त्र का अध्ययन तथा वर्तमान समस्याएँ

क्षेत्र के विस्तार तथा नागरिकता के प्रवेश के दो कारण हैं। एकाधिपत्य शासन, जो किसी समय संसार के प्रायः सभो भागों में प्रचलित था—की जगह जनतन्त्र शासन विधान की स्वीकृति से शासन-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो गया है।

वर्तमान शासन का उद्देश्य स्वतन्त्रता के बन्धनों का उचित और पूर्ण निष्कासन ही नहीं है, अपितु अशेष समाज के मानव-जीवन की विभिन्न प्रचेष्टाओं की कल्याण-प्राप्ति का प्रयत्न करना भी है। शासन के ये उद्देश्य समय की प्रगति, ज्ञान की वृद्धि, तथा अनुभव के संग्रह से नित्य बदलते तथा अनुकूल रूप में गठित होते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि नागरिक-शास्त्र, ज्ञान के विभिन्न सामाजिक विभाग यथा समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास, दर्शन, आईन-कानून, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, ललितकला (सौन्दर्य शास्त्र), शरीरविज्ञान आदि जो-जो सम्बद्ध जीवन तथा सामाजिक कल्याण और अन्यान्य सम्बन्ध की विभिन्न समस्याओं की व्याख्या करते हैं—के परिशीलन विना अपूर्ण ही रह जाता है। उपर्युक्त शास्त्रों का अध्ययन विद्यार्थी को केवल सैद्धान्तिक सदाचरण की ही शिक्षा नहीं देगा, बल्कि उस सुधारक तथा राजनीतिज्ञ को भी कठिन सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये उपर्युक्त उपकरण (हथियार) प्रदान करेगा।

नागरिकशास्त्र तथा राजनीति

नागरिक-शास्त्र तथा राजनीति में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुत लेखक तो यहां तक कहते हैं कि ये दोनों शास्त्र एक ही विषय के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक शाखाएँ हैं।

"दोनों शास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं। दोनों का विकासक्रम भी एक ही है। नागरिक-शास्त्र नागरिक को अपने कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान कराता है। राजनीतिशास्त्र उन अधिकारों को पालन करने का अवसर देता है। दोनों ही शास्त्र यह बतलाते हैं कि मनुष्य का एक दूसरे के प्रति तथा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है। सुख और शान्ति दोनों के अन्तिम उद्देश्य हैं। दोनों से ही विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति होती है।"

नागरिक तथा राजनीति, जिनके पर्य्यायवाची अंग्रेजी शब्द (सिभिक्स) तथा पौलिटिक्स, विदेशी शब्द हैं—जिनकी व्युत्पत्ति हिन्दी—प्रति शब्दों

की व्युत्पत्ति से समर्थित नहीं होती। हिन्दी में नागरिक शब्द नगर शब्द से बनाया गया है। नगर शब्द का अर्थ हिन्दी में 'शहर' होता है।

परन्तु इस अर्थ के साथ नागरिक-शास्त्र का समन्वय नहीं हो सकता अर्थात् नागरिक-शास्त्र शहरों का शास्त्र नहीं है। अस्तु नागरिक शास्त्र और नगर शब्द से अर्थगत कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार राजनीति शब्द की व्युत्पत्ति के अनुकूल अर्थतः कोई समन्वय नहीं।

इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों का कार्यक्षेत्र भिन्न है। राजनीतिशास्त्र का दारोमदार राजनीतिक संगठनपर स्थित है। राजनीतिशास्त्र राष्ट्रिय तथा अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं से सम्बन्ध रखता है; नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध केवल स्थानीय बातों से रहता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य की राजनीतिक उन्नति का एक इतिहास है; नागरिक शास्त्र सामाजिक कर्त्तव्यों का एक कोश है। राजनीतिशास्त्र नागरिक के अधिकारों के प्रयोग के लिये क्षेत्र तैयार करता है; नागरिकशास्त्र उन अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कराता है। नागरिक शास्त्र व्यक्तित्व का विकास कराता है; राजनीति शास्त्र उस व्यक्तित्व से लाभ उठाता है।

राजनीति की शाखाएँ

राजनीतिशास्त्र व्यक्ति, समष्टि तथा शासन के अन्तर-सम्बन्ध का द्योतक है। अस्तु राजनीति का कोई भी उचित वाद-विवाद विषयज्ञान पर ही अवलम्बित रहता है। और इसी आशय अथवा अभिप्राय में अब राजनीति-विज्ञान का व्यवहार भी होता है। इसमें राज्य का प्रबन्ध, नियन्त्रण, संचालन तथा शासन, राष्ट्रिय तथा अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। साथ ही इसमें राजनीतिक संस्थाओं के

विकास का क्रमबद्ध विवरण रहता है। इसका अध्ययन राजनीतिक समस्याओं के ऊपर समय-समय पर की गई सैद्धान्तिक समालोचनाओं से अनिवार्य रूप से सुसम्बद्ध रहता है।

राजनीति, दर्शन, राजनीतिक संस्थाओं की अच्छाई या बुराई के विवाद-विमर्श से भी युक्त रहता है। आदर्शों तथा स्तरों के इस सैद्धान्तिक अध्ययन ने प्राचीन ग्रीस के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के समय से पश्चिम के देशों में काल्पनिक गणतन्त्र या स्वप्नराज्य अथवा सामाजिक विकास पराकाष्ठा संगठन के निर्माणार्थ प्रयत्नशील हो गया है, जिसमें कतिपय राजनीतिक सिद्धान्त विशेष प्रत्यक्ष प्रतिपन्न होते हैं।

ठीक इसीसे मिलता-जुलता राजनीतिक नामक एक और भी ज्ञान विभाग है, जो इससे प्रायः अभिन्न-सा है, और जिसमें प्रजाशासन का कोई विधान उपयुक्त रूप से प्रतिपालनार्थ सिद्धान्तों के संगठन की चेष्टा रहती है।

राजनीति तथा अन्यान्य विज्ञान

विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के अन्यान्य सम्बन्ध का अनुशीलन तथा उनकी अधीनस्थता का ज्ञान जो प्रकृति विज्ञान का प्रमुख विषय बन गया है, आज अत्यन्त आवश्यक तथा व्यावहारिक हो गया है।

ऐसा करना बिलकुल स्वाभाविक ही है; क्योंकि मनुष्य के जीवन, चरित्र, रुख, प्रगति, प्रकृति तथा प्रवृत्तियों की बहुरूपता का एकान्त पृथक विभाजन असम्भव-सा ही है; क्योंकि मनुष्य अपने आस-पास की प्राकृतिक तथा भौगोलिक परिस्थिति से भी कम-वेशी अभिभूत होता ही है।

इस प्रकार हमारा अध्ययनक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसके विषय में

यहां तक कहा जाता है कि जो कुछ भी प्रभावित करनेवाला हो—या जो किसी प्रकार भी सभ्य मानव स्वभाव को प्रभावित करने में वस्तुतः लाभ-दायक हो—वह सभी राजनीति के विद्यार्थियों के लिये आवश्यक तथा हितकर है।

राजनीति और अर्थ-शास्त्र

शासन-कार्य का अधिकांश प्रजा के आर्थिक उद्योगों से सम्बन्ध रखता है। अस्तु अर्थशास्त्र नागरिक-शास्त्र के अध्ययन में विशेष रूप से संश्लिष्ट है। राजनीति-शास्त्र पर एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक का कथन है कि—आज संसार आर्थिक-कल्याण के लिये सचेष्ट है, अस्तु यह पहले से कहीं ज्यादा आर्थिक विचारों तथा आर्थिक संस्थाओं से शामिल हो रहा है।

अर्थ-शास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। वह समाज का उस अङ्ग का वर्णन करता है, जिसका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति तथा वितरण से है। धन की उत्पत्ति कैसे होती है, उसकी आवश्यकता समाज को क्यों पड़ती है, और उसका वितरण किस ढंग पर होता है—इत्यादि बातों का समावेश अर्थ-शास्त्र में होता है। कोई भी ऐसा नागरिक न होगा, जिसे धन की आवश्यकता न हो। मनुष्यों को एकत्र कर एक समाज में ढालने का बहुत बड़ा श्रेय धन को ही है। यदि मनुष्य को इसकी आवश्यकता न हो, तो वह सामाजिक तथा राजनीतिक नियमों को पालन करने से इनकार कर देगा।

धन की उत्पत्ति के साधन तथा इसके व्यय का उचित मार्ग अर्थ-शास्त्र के अन्दर पाया जाता है। स्थायी सामाजिक शान्ति तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक लोगों के पास भोजन का अभाव रहेगा।

वह समाज प्रसन्न नहीं रह सकता, जिसमें गरीब-दुखियों की संख्या अधिक होगी। धन से समाज को सुखी रखना शासक का पहला कर्त्तव्य है। अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत कृषि-शास्त्र भी आया है। किसान अपनी सफाई कैसे रक्खे, खेती कैसे करे, सिंचाई की क्या व्यवस्था हो, उत्पन्न अनाज को बेचने की क्या तरकीब हो ; इत्यादि बातों का घनिष्ट सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र से ही है। धन की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि नागरिकों का जीवन संगठित हो, उनके अन्दर सहयोग का भाव हो और उनकी व्यापार-शक्ति उन्नत हो।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार से भी अन्तर्देशीय या अन्तर्जातीय अन्यान्य आर्थिक निर्भरता, अन्तर्जातीय व्यापार गत श्रोत तथा प्रतिश्रोत विदेशी सिक्का विनिमय एवं अन्तर्जातीय कोष शक्तियां आदि भी अन्तर्जातीय राजनीति पर कम प्रभाव नहीं डालतीं।

राजनीति और इतिहास

अब एक दूसरा विषय इतिहास लें। सर जौन शीले ने कहा है कि "अगर यह एक क्षण के लिये भी मान लिया जाय कि "ऐतिहासिक सत्य" की उपलब्धि साध्य है, तो फिर इसकी चूड़ान्त उपयोगिता के लिये जरा भी विवाद न हो। यह असंख्य मनुष्यों के अत्यन्त क्षणिक तथा अत्यन्त विस्तृत घटनाओं का, साम्राज्य के विकास तथा पतन का, शान्ति एवं युद्ध का, सुख तथा कष्टों का विवरण करता है।" मनुष्यके शताब्दियों के राजनीतिक अनुभवों का अनुशीलन आवश्यक है।

मनुष्योंके उद्देश्य तथा संस्थाएँ जिनसे इन उद्देश्यों की उपलब्धि हुई—का पुनर्चिन्तन तथा पुनर्गठन विवेकशील व्यक्तियों के द्वारा होना ही

चाहिये। शीले साहब का प्रसिद्ध कथन बिलकुल सत्य है कि—"इतिहास के बिना राजनीति निराधार है तथा राजनीति के बिना इतिहास निष्फल है।"

इतिहास मनुष्य की सभ्यता का एक कोष है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा मानसिक उन्नति का विश्लेषण होता है। वास्तव में इतिहास मनुष्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता का एक युद्ध है।

इतिहास राजनीतिक सिद्धान्तों के घात-प्रतिघात का रंगस्थल है। उसमें संघटित भूत घटनाओं की आलोचनाओं से राजनीतिक-त्रुटियों का स्पष्टीकरण कर भविष्य का मार्ग प्रसस्त किया जाता है। हमारी वर्तमान अवस्था हमारे भूतकाल के कर्त्तव्यों का फल है, और इसीमें भविष्य का बीज भी छिपा हुआ है। अपने पूर्वजों की रीति-नीति कार्य-व्यापार और कीर्ति को समझने के लिये इतिहास का अध्ययन नितान्त आवश्यक है और इसीसे वर्तमान और भविष्य की राजनीति का उद्गम होता है।

कृषि, व्यवसाय, सामाजिक शासन, राष्ट्रीय आय-व्यय तथा रक्षा आदि विषयों का प्रतिपादन इतिहास और राजनीति-शास्त्र दोनों में ही पाया जाता है। व्यावसायिक उन्नति, शिक्षा की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दोनों शास्त्रों का विषय है। कौटुम्बिक जीवन, ग्रामोन्नति, शहरों तथा विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण आदि विषय दोनों शास्त्रों के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का प्रभाव हमारी राजनीति पर किसी-न-किसी प्रकार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से पड़ता आया है। इतिहास से ही हमारे राजनीति-शास्त्र का निर्माण होता है। हम इनके अटूट सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकते।

राजनीति-शास्त्र का अन्यान्य शास्त्रों के साथ सम्बन्ध

राजनीति का समाज-शास्त्र के साथ यद्यपि घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है, तथापि जो सम्बन्ध है, वह नगण्य अथवा निरा अस्पष्ट नहीं है। समाज-शास्त्र में समस्त सामाजिक जीवन की घटनाओं तथा सामाजिक आईन-कानूनों की व्याख्या रहती है। इसी प्रकार राजनीति का मनोविज्ञान जिसके सिद्धान्त जनता की राय तथा प्रतिपक्षियों के वाद-विवाद के निष्कर्ष व्याख्या में उपयोगी होता है—के साथ भी सम्बन्ध है। धर्मशास्त्र या आचार-नीति अथवा नीति-शास्त्र के आचार आदर्शों के साथ और प्रजा-वस्थापरिगणनाशास्त्र (स्टैटिसटिक्स) जिससे शासन समस्या के अन्तरङ्ग अध्ययन के लिये इतने स्वीकृत सिद्धान्त मिलते हैं—के साथ भी इसका अक्षुण्ण सम्बन्ध स्पष्ट देख पड़ता है।

क्या राजनीति एक शास्त्र है ?

यद्यपि राजनीति भी एक शास्त्र या विज्ञान ही मानी जाती है तथापि इसमें सामाजिक अथवा मानवी समस्त त्रुटियां एवं संकीर्णताएँ विद्यमान हैं ; ज्योतिष-शास्त्र, उद्भिद्-शास्त्र, पदार्थ-शास्त्र तथा भूतत्व-शास्त्र, रसायनशास्त्र आदि सारे प्रकृति-विज्ञान के अपने-अपने सिद्धान्त निश्चित स्पष्ट एवं अटल हैं, जो निरीक्षण तथा परीक्षण के आधार पर ही प्रतिष्ठित हुए हैं।

किन्तु ; सामाजिक-विज्ञान यथा अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र या आचार-शास्त्र, राजनीति, इतिहास, दर्शन तथा समाज-शास्त्र अपनी नीति एवं सिद्धान्तों में परिपूर्णता अथवा अभ्रान्तिका—खास करके घटनाओं की पूर्व सूचना का अबतक वैसा दावा नहीं कर सकते।

विषय प्रवेश

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में इस शास्त्र विशेष का नामकरण दण्डनीति तथा धर्मशास्त्र भी पाया जाता है। किन्तु; उन शास्त्रों में वर्णित समस्याओं में अधिकांश इसमें वर्णित होने पर भी इस शास्त्र का नामकरण प्राचीन भारतीय नामकरण दण्डनीति न रख कर "राजनीति-शास्त्र" ही रखना उचित समझा गया। और; इसका कारण यही है कि समय के परिवर्तन से गुण, द्रव्य, वस्तु, व्यवस्था, विचार एवं भावनाएँ सब बदलती हैं और वर्तमान काल के सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर "राजनीति-शास्त्र" नाम ही रखना समीचीन समझा गया।

सामाजिक मानवीय प्रकृति विभिन्न जटिल समस्याओं एवं विचारों यथा :—व्यक्तिगत रुचि, अरुचि, पसन्दगी, नापसन्दगी, सामाजिक, धार्मिक एवं जातीय प्रचलन अथवा रिवाज आदि के प्रभाव से सञ्चालित होती है।

रासायनिकों तथा पदार्थशास्त्रियों की रसायनशाला तथा परीक्षणालयों में प्राप्त तत्वोपलब्धि की तरह सामाजिक मनुष्यों की प्रवृति एवं व्यवस्थाओं की तात्विक उपलब्धि असम्भव ही है, और कतिपय घटनाक्रमों पर अवलम्बित समाजशास्त्रियों का सिद्धान्त कदापि चिरन्तन अथवा सत्य नहीं हो सकता क्योंकि किन्हीं विभिन्न दो कालों अथवा किसी निश्चित अवधि में दो विभिन्न देशों में ये सामाजिक संस्थायें तथा सामाजिक सम्पर्क कभी भी स्थायी अटल अथवा अखण्ड नहीं होते।

इसीलिये बड़े से बड़े विद्वान तथा बुद्धिमान राजनीतिज्ञ को भी महत् स्वार्थ में साक्षात् विरोध से बचने के लिये तत्कालीन संचालित

परिस्थितियों के अनुकूल ही अपना विचार और सिद्धान्त रखना पड़ता है।

नागरिक शास्त्र का अध्यन तथा जनसाधारण

इन पाण्डित्यपूर्ण उद्देशों तथा राजनीति विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता से बढ़कर जनसाधारण को राजनीति शास्त्र के मौलिक नियमों, सिद्धान्तों और विषयों का परिचय कराना अनिवार्य है। गणतन्त्र राष्ट्रों एवं देशों की प्रजाओं या जातियों का भाग्य जनसाधारण की वैयक्तिक तथा पारस्परिक व्यवहृतियों पर अवस्थित रहता है।

आधुनिक राष्ट्रों की प्रगतिशीलता जनसाधारण के कन्धों पर बहुत भारी उत्तरदायित्व लाद रही है। शासन की सफलता तथा उत्तमता एक ओर तो जनता या नागरिक के उत्तरदायित्व-प्रतिपालन की योग्यता पर निर्भर करती है, और दूसरी ओर आवश्यक एवं प्राप्य ज्ञानोपलब्धि के साथ अपने राष्ट्र के उद्देश्यों तथा आदर्शों की प्राप्ति के लिये दृढ़ता तथा सचेष्टता के साथ काम करने पर शासन के विस्तृत तथा वैज्ञानिक पर्यालोचना के लिये राजनीतिक तथा नागरिक शिक्षा का सुविस्तृत तथा वृहत्तर प्रचार अज्ञान, मोह तथा स्वार्थ जैसी प्रगति एवं विकास के विघातक शक्तियों से प्रतिद्वन्द्विता के लिये नितान्त आवश्यक है।

नागरिक शास्त्र समाजशास्त्र का और फिर राजनीतिशास्त्र का प्रधान अंग है। प्रत्येक शास्त्र का क्षेत्र मनुष्य की बौद्धिक उन्नति से सीमित है। सामाजिक शास्त्र सामाजिक उन्नति का प्रतीक है।

नागरिक शास्त्र के साथ ही राजनीतिशास्त्र का विस्तार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों में फैला है। भूतकाल में नागरिक तथा प्रजा के क्या अधिकार थे, वर्तमानकाल में उनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए, कौन-

कौन सी विशेषताएँ आईं, तथा भविष्य में उनमें परिवर्तन की क्या आशा या स्वरूप होगा—आदि सब का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। यह सब ज्ञान नागरिक शास्त्र के साथ-साथ राजनीतिशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकते हैं।

संसार आज जिस प्रकार दिखाई पड़ता है, वह सामाजिक जीवन का ही फल है। नागरिक शास्त्र की तरह ही राजनीतिशास्त्र का भी विभिन्न सामाजिक शास्त्रों के साथ अक्षुण्ण सम्बन्ध है। नागरिक के नाते हमें यह जानना नितान्त आवश्यक हो जाता है कि हमारा शासन कैसे चलता है। इसके लिये हमें अपनी शासन-व्यवस्था का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। और इस प्रकार इस उद्देश्य के कारण नागरिक-शास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध उपस्थित हो जाता है।

द्वितीय परिच्छेद

व्यक्ति और समाज

१

"समाज से सम्बलित होने के कारण मनुष्य सारे प्राणियों में सर्व श्रेष्ठ है। यही मनुष्य जब नीति, विचार, कानून एवं न्याय से विमुख हो जाता है, तब सबसे भयंकर या खूँखार हो जाता है। यही जब अपने को एक व्यक्ति, या सब से विभिन्न मान लेता है, और समाज में नहीं रह सकता, तथा जब यह केवल अपने ही साधनों की पूर्ति आवश्यक समझने लगता है, और अपने को मानव समाज का व्यक्ति अथवा अंग नहीं मानता, तो यह वर्बर पशु अथवा पूजनीय देवता बन जाता है। —अरीस्टोटल (अरस्तू)

कहा जाता है कि वास्तविक इतिहास में इधर-उधर के कतिपय व्यक्ति विशेष का ही वर्णन नहीं रहता, बल्कि उस मानव समाज का वर्णन रहता है, जिससे एक महान् जाति या शक्ति गठित होती है। ऐसे इतिहास मानव जाति के युगयुगान्त से होनेवाले संघर्षों का मनोहर दिग्दर्शन कराते हैं; जिसमें मनुष्य का प्रकृति के विभिन्न तत्वों, बीहड़ जंगलों उनके भयानक जन्तुओं, और निजी स्वार्थ साधनार्थ दबाने एवं लूटने वाले अपनी ही जाति के कुछ लोगों के साथ कठिन संघर्ष का रोमाञ्चकारीवर्णन रहता है।

मनुष्य के असभ्य बर्बरों के वर्णन से इतिहास का प्रारम्भ होता है।

धीरे-धीरे सामाजिक इकाइयों का संगठन होने लगता है। महान् ऐतिहासिक जिनका उद्धरण ऊपर हो चुका है, इस सामाजिक विकास के विषय में निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं—

इस सामाजिक इकाई का संगठन क्यों हुआ ?

जीवन संघर्ष के लिये ही यह सहयोग अथवा सामाजिक संगठन का विकास आवश्यक प्रतीत हुआ। क्योंकि समान शत्रु के आक्रमण का सामना अथवा उससे रक्षा एवं उसपर प्रत्याक्रमण—दोनों ही काम के लिये—संगठित प्रयोग एकाकी-संरक्षण या एकाकी-आक्रमण से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होता था। सामान्य कार्य्यसाधन में भी यह सहयोगात्मक प्रयोग अधिक लाभदायक होता था। इस सहयोगात्मक कार्यसाधन का उद्देश्य स्वार्थसाधी असभ्य आर्थिक इकाई को बदल कर दलगत विकास परिचालन हुआ।

जैसे-जैसे इन आर्थिक तथा सामाजिक इकाइयों का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे जीवन अधिक जटिल होता जाता है। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता जाता है, दुनिया की सम्पत्ति भी बढ़ती जाती है, और कुछ लोगों को कुछ न कुछ आराम भी बढ़ता जता है। और इस प्रकार सभ्यता भी दिन-दिन बढ़ती जाती है।

वस्तुतः इसी सहयोगात्मक जीवन के द्वारा ही मनुष्य अपना तथा अपने अन्यान्य सहवर्गी लोगों का चरम ईष्टसाधन कर सकता है। कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास पूर्णरूपेण तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसके पड़ोसी आत्मविकास के सुअवसर से वंचित हैं। इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र तब तक अपनी जाति की उन्नति की चरमसीमा पर

नहीं पहुंच सकता, जब तक अन्य राष्ट्र पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-उन्नति एक मिश्रित प्रणाली है।

समाज, संस्था, राष्ट्र तथा व्यक्ति

मनुष्य स्वभावतः सामाजिक जीव है। उसकी भावना उसे दूसरों के साथ मिलकर रहने के लिये प्रेरित करती है। इस सामूहिक सम्मेलन का संगठन आर्थिक तथा अन्यान्य सहयोगी कार्यों के लिये अत्यन्त आवश्यक उपयोगी तथा लाभदायक पाया है। आधुनिक समाज ऐसे अगणित सामूहिक संगठन का सम्मिलित समष्टि है। प्रत्येक समूह अनेक व्यक्तियों की समष्टि है। जिसमें उसका प्रत्येक व्यक्ति समानस्वार्थ अथवा संयुक्त उद्देश्य के साधनार्थ सम्मिलित होता है। उनका अभिष्ट बौद्धिक, सांसारिक, आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक रहता है। कोई भी व्यक्ति इस सामाजिक समूहों या संगठनों के एक दो या कई का अंग या सदस्य रह सकता है।

इस तरह प्रत्येक सामाजिक संगठन, दल अथवा समूह एक या अधिक समान उद्देश्य साधन के लिये संयुक्त कतिपय व्यक्तियों की समष्टि बना लेता है। ऐसी समष्टि का सबसे छोटा रूप परिवार और सबसे महान्, मुख्य तथा मान्य रूप जाति या राष्ट्र माना जा सकता है। अशेष विश्व-समाज की कल्पना करने पर समस्त मानव जाति ही पूर्ण व्यापक और सर्वश्रेष्ठ सामाजिक समष्टि समझी जायगी।

व्यक्तियों की संस्था या समष्टि जितनी ही बड़ी होती जायगी, वैयक्तिक सम्बन्ध अथवा समष्टि बन्धन उतना ही अधिक जटिल होता जायगा।

ऐसी संस्था या सामाजिक समष्टि के उदाहरण स्कूल, कॉलेज, विश्व-विद्यालय, व्यापारी संघ, सहकारी संस्था, वणिक सभा, पूग, धार्मिक मठ, धार्मिक संघ, विधान-परिषद् अथवा व्यवस्थापिका सभा, तथा पौरसंघ हैं। विश्वविद्यालय में उसके सदस्य ज्ञानोद्देश्य तथा सांस्कारिक साधन के विकासार्थ सम्मिलित होते हैं। सहकारी-संस्था में उसके सदस्य अपने आर्थिक विकास के लिये मिलते हैं। धार्मिक संस्था समान विचार, धारणा, धार्मिक विश्वास तथा आध्यात्मिक विकास की कामना करनेवाले लोगों को सम्मिलित करती है। किसी वणिक-सभा में वाणिज्य-व्यापार की उन्नति चाहनेवाले सदस्य मिलते और काम करते हैं। व्यवस्थापिका सभा अथवा पौरसंघ जनता की विभिन्न आवश्यक अभीष्ट की पूर्ति करती है। समाज में व्यक्ति-विशेष का अलग कोई स्थान नहीं है। अथवा यों कहें कि व्यक्ति समाज से भिन्न अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता, इसी प्रकार समाज व्यक्ति के बिना नहीं के बराबर है। इसका निष्कर्ष यह है कि न तो व्यक्ति के बिना कोई समाज हो सकता है और न समाज के बिना कोई व्यक्ति ही रह सकता है। इस प्रकार व्यक्ति का समूह से सम्बन्ध है, समूह का समूह से सम्बन्ध है, एवं समूहों का समाज के साथ सम्बन्ध है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य, अविच्छिन्न तथा परमोपयोगी है।

समाजहित

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक महर्षि प्लेटो का कथन है कि समाज का उद्देश्य सिर्फ व्यक्ति-विशेष को ही सुखी बनाना नहीं है, प्रत्युत् समाज के सभी सदस्यों को अधिकाधिक सुख पहुंचाना है। अनुभव बतलाता है

कि व्यक्ति की प्रसन्नता और सुख समाज के द्वारा ही साधित हो सकता है। फिर दूसरी बात यह है कि यदि समाज व्यक्ति को अपने श्रेष्ठ गुणों के पूर्ण विकास का समुचित सुअवसर नहीं देता, तो वह अपने उचित उद्देश्य की पूर्ति में असफल ही रह जाता है।

कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास पूर्णरूपेण तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसके पड़ोसी भी आत्म-विकास के सुअवसर से वंचित रहते हैं। इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र तब तक अपनी उन्नति की चरमसीमा पर नहीं पहुंच सकता, जब तक अन्य राष्ट्र पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-उन्नति एक जटिल तथा मिश्रित प्रणाली है।

प्राचीन काल में यदि मनुष्य को अपने परिवार तथा अपने निकटतम पड़ोसी के प्रति कर्तव्य-पूर्ति का अवसर मिल जाता, तो वह अपने को सन्तुष्ट समझता था। किन्तु ; आधुनिक समाज में सामाजिक कर्तव्य की यह कसौटी अत्यन्त संकुचित समझी जाती है। एक ओर तो विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ ज्ञान की व्यापकता एवं दूरी की कमी तथा दूसरी ओर विभिन्नता का आधार आदि सब-के-सब मानव-समाज के विभिन्न क्षेत्रों को धीरे-धीरे निकटतर कर रहे हैं। मनुष्य के सामाजिक उत्तरदायित्व का क्षेत्र समस्त जातीय-जीवन से सम्पृक्त समझा जाने लगा है। समस्त मानव-जाति की प्रसन्नता का सम्बन्ध व्यक्ति एवं समाज से संश्लिष्ट होना चाहिये।

व्यक्ति का महत्त्व

प्राचीन काल में मनुष्य अपना जीवन धार्मिक, सामाजिक तथा पारिवारिक शास्त्रों के दृढ़ और अविचल नियमों एवं रिवाजों के अनुकूल ही

नियन्त्रित रखता था ; जो ज्यादातर तर्कहीन, असङ्गत एवं अन्ध-विश्वास और रुढ़िवाद पर अवलम्बित रहता था। इससे व्यक्ति-विशेष का स्वार्थ समाज अथवा वर्ग के स्वार्थ के बनिस्बत उपेक्षित हो जाता था।

युद्धकाल की अनवरत विभीपिका के सन्मुख केवल जीवन-रक्षा सम्भव वनाने के लिये ऐसी नीतियां आवश्यक समझी जाती थीं। किन्तु ; ये खतरे अब प्रायः मिट-से गये हैं। आज का समाज सुखी एवं समुन्नत जीवन के सारे प्रसाधन प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त कराने के लिये समुत्सुक है। आज समाज व्यक्ति के लिये ही अवस्थित है। प्राचीन काल के सामाजिक सङ्गठन में पराधीनता की जगह आज की सामाजिक स्वतन्त्रता का विभेद प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

प्रगति का विचार अथवा भाव

अशेष मानव-जाति की सामूहिक मङ्गलकामना के साथ सभी सह-योगी संस्थायें तथा समाज जब मिल-जुलकर अपना कार्य सञ्चालित करें तभी प्रकृत उन्नति सम्भव हो सकती है। इस उद्देश्य के साधन के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि जो-जो वर्तमान संस्थायें मनुष्य के बौद्धिक, सांस्कारिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक विकास के लिये उपयोगी, प्रयत्नशील एवं आवश्यक प्रमाणित हुई हैं, वे समुचित रूप से समुन्नत एवं सफल बनाई जायँ। समाज तथा व्यक्ति का विकास इस प्रकार की प्रत्येक प्रचेष्टा की समुन्नति पर ही अवलम्बित है।

विकास अथवा प्रगति की भावना में परिवर्तन की भावना भी सम्मिलित है। विकास की दो पद्धतियां हैं, पहली वर्तमान दशा की सुधार, उन्नति या विकास, दूसरी नयी-नयी सुविधाओं की प्राप्ति।

निश्चय ही वर्तमान सुधार के लिये उसकी दशाओं अथवा अवस्थाओं का रुपान्तर या परिवर्तन आवश्यक है, एवं उसके क्रम या विधि, जो सामाजिक कल्याण के विरोधी तथा विकासके विघातक समझे जाते हैं— का त्याग भी आवश्यक है। अस्तु, व्यक्ति तथा संस्थाओं को परिस्थिति परिवर्तन की अनुकूलता की आवश्यकता अवश्य माननी चाहिये।

प्राचीनकाल में समाज अपने समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के विचार से अपनी पुरानी आधारगत नीतियों को समय-समय पर सुदृढ़ बनाते रहना आवश्यक समझता था। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि एक ओर तो अनुचित तथा विवेकहीन रिवाज तोड़े जायँ, हानिकारक प्रवृत्तियों का त्याग हो तथा विनाशकारी रुढ़िवाद एवं अन्धविश्वास उन्मूलित हों ; और दूसरी ओर ज्ञान तथा प्रकाश का प्रचार हो, मनुष्य की अपनी शक्ति के अनुकूल परम सुखी एवं सुमधुर जीवन व्यतीत करने योग्य परिस्थिति उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाय। तभी मानव उच्चतर, श्रेष्ठतर, समुन्नत तथा सुखपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर हो सकेगा।

२

जनतन्त्रात्मक शासन की कुञ्जी आत्म-अनुशासन है, और यही जीवन-सुधार का एक महत्त्वपूर्ण नियम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक व्यक्ति की स्वाधीनता, एक नागरिक के नाते इसीमें है कि वह दूसरे के अधिकार और स्वाधीनता में हस्तक्षेप न करे। यह वही आत्म-अनुशासन

है, जो नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य में पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना कराता है। सुप्रसिद्ध रोमन दार्शनिक एपिक्टेट्स ने घोषणा की थी—तुम संसार के नागरिक उसके अङ्ग हो। नागरिक कर्त्तव्य दूसरों के स्वार्थ से भिन्न केवल अपने स्वार्थ के लिये कुछ नहीं के बराबर है। सम्प्रति नागरिक के कर्त्तव्य पर जोर दिया जाता है, न कि केवल उसके अधिकार पर। नागरिक का यह कर्त्तव्य सिर्फ राष्ट्र के लिये ही नहीं है, वरन् परिवार, गाँव, नगर, प्रान्त और विश्व के प्रति है।

अधिकार और कर्त्तव्य, दोनों साथ-साथ रहते हैं। किन्तु, समाज बिना किसी सम्बन्धित अधिकार के भी कुछ कर्त्तव्य-भार व्यक्ति के ऊपर डालता है; यह इसलिये कि उससे समस्त जनता की स्वार्थ-रक्षा हो, जाति में अमन-चैन फैले, शान्ति का प्रादुर्भाव हो एवं सुशासन की स्थापना हो। उदाहरणार्थ, 'कर' अदा कर देने का कर्त्तव्य किंवा सेना या जूरी में भाग लेना केवल व्यक्ति-विशेष या व्यक्तियों के लिये नहीं है, प्रत्युत् वह सारे राष्ट्र की भलाई के लिये आवश्यक है।

वैधानिक अधिकार दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—नागरिक और राजनीतिक। नागरिक अधिकार वे हैं, जिनकी रक्षा सभ्य जीवन के अस्तित्व के लिये, ताकि उस पर किसी प्रकार का आघात न पहुंचे, सरकार अति आवश्यक समझती है। प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा उसके लिये महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक अधिकार व्यक्ति-रक्षा एक व्यक्ति के रूप में नहीं करता, वरन् एक नागरिक के रूप में।

किसी स्वतन्त्र देश में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नागरिक अधिकार निम्नलिखित हैं:

(१) जीवन-संरक्षण का अधिकार।

(२) कानून में समानता।

(३) गैर-कानूनी गिरफ्तारी या जेल से बचने का अधिकार।

(४) सम्पत्ति का संरक्षण।

(५) धार्मिक विश्वास की स्वाधीनता।

(६) सोचने, बोलने और लिखने की स्वाधीनता।

(७) आवागमन की स्वाधीनता।

(८) सामाजिक जीवन के सार्वजनिक लाभ का अधिकार।

ये अधिकार कुछ सीमित सहूलियत के साथ नागरिकों को प्राप्त रहते हैं। इनमें कोई खास कानूनी अड़चन न होने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती। हाँ, युद्ध या नागरिक सङ्घर्ष-जैसे आवश्यकता-काल में कुछ व्यतिक्रम अवश्य पाया जाता है।

वैधानिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये परस्पर मिलने-जुलने की स्वाधीनता, सार्वजनिक सम्मेलन की स्वतन्त्रता—यदि सार्वजनिक सम्मेलन शान्ति और नैतिकता के विरुद्ध नहीं है, प्रारम्भिक नागरिक और राजनीतिक अधिकार हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये बहुत-से देशों में युगों से लोग लड़ते आ रहे हैं।

राजनीतिक अधिकारों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

(१) सार्वजनिक प्रश्न पर विचार और वाद-विवाद के लिये शान्तिमय सभा करने का अधिकार।

(२) वैयक्तिक या सामूहिक रूप से सरकार के पास प्रार्थना-पत्र भेजने का अधिकार।

(३) किसी पद पर स्थायी रूप से चुने जाने का अधिकार।

(४) किसी पद की नियुक्ति के लिये प्रतिद्वन्द्विता का अधिकार।

...ों में जहाँ
...रूप में ही
... अधिकारों
... शिक्षा का
...के व्यवहार

...यक समझे
...ा हैं। ये
...निहित हैं।
...कम-से-कम
...क विभिन्न
...समानताएँ

...धकारों की
...की गारंटी

...क हृदय में

...क्षेत्र में जो

प्राप्त रहते

हैं। ... की बाधा

नहीं ... -काल में

कुछ ...

धीनता,

सार्व ... त और

नैति ... धिकार

हैं। ... लोग

लड़ते ...

(... त्तमय

सभा ...

(... -पत्र

भेजने का अधिकार।

(३) किसी पद पर स्थायी रूप से चुने जाने का अधिकार।

(४) किसी पद की नियुक्ति के लिये प्रतिद्वन्द्विता का अधिकार।

(५) वोट देने का अधिकार।

इन सबका जनतन्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि ऐसे देशों में जहाँ प्रजातन्त्र नहीं है, इनका उपयोग होता भी हो, तो उसे आंशिक रूप में ही समझा जाना चाहिये। आधुनिक प्रगतिशील देशों में इन दोनों अधिकारों के बीच की भिन्नता धीरे-धीरे दूर हो रही है। उदाहरणार्थ शिक्षा का अधिकार हालाँकि नागरिक अधिकार है, राजनीतिक अधिकार के व्यवहार की भी सच्ची भित्ति है।

कुछ नागरिक और राजनीतिक अधिकार इसलिये आवश्यक समझे जाते हैं, कि वे विधान या कानून द्वारा प्राप्त परम्परा से चले आते हैं। ये आवश्यक मौलिक अधिकार कितने ही आधुनिक विधानों में निहित हैं। इन अधिकारों से पता चलता है कि किसी भी देश के लोग कम-से-कम स्वतन्त्र अस्तित्व के लिये बाध्य हैं। यों तो विभिन्न देशों के विभिन्न मौलिक अधिकार आपस में भिन्न होते हैं, किन्तु कुछ व्यापक समानताएँ प्रायः सबमें पायी जाती हैं।

यह ध्यान में रखना होगा कि केवल विधान में ही अधिकारों की घोषणा कर देना ही पर्याप्त नहीं है। इन अधिकारों के प्रयोग की गारंटी भी नितान्त आवश्यक है।

घोषणा का वास्तविक मूल्य यह है कि उससे नागरिकों के हृदय में विश्वास पैदा होता है।

आधुनिक युग में नागरिकों के अधिकार के स्वरूप और क्षेत्र में जो

परिवर्तन हुए हैं, उनके सम्बन्ध में दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। उन लोगों को, जो किसी देश में अल्पमत रखते हैं, अपनी संस्कृति और भाषा की रक्षा और विकास के लिये अधिकार प्राप्त हैं। आधुनिक राष्ट्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह भी है कि वह राष्ट्रीय वाणिज्य-व्यवसाय की रक्षा करे और उसे प्रोत्साहन दे एवं ऐसी बातों को, जो सामाजिक लाभ के लिये घातक हों, रोके।

समाज की उन्नति और विकास में नागरिकता का जबर्दस्त हाथ है। समाज के विभिन्न कार्य दोनों के एकीकरण में नागरिक के अधिकार एवं सुविधाएँ बड़ी उपयोगी प्रमाणित हुई हैं। आधुनिक राष्ट्र से यह भी आशा की जाती है कि वह अपने महान उद्देश्य की पूर्ति तभी कर सकेगा, जब कि उसका प्रत्येक नागरिक पूर्ण विकसित, सतर्क और कार्यशील होगा एवं वह समाज के कल्याण के लिये अपनी शक्ति के प्रयोग में अड़चनों का सामना करके भी पारस्परिक लाभ के लिये सफलीभूत होगा। ऐसी नागरिकता के विकास और नागरिक कर्त्तव्य की उच्च-भावना पर ही किसी देश की उन्नति एवं महत्ता सम्भाव्य है और यही मानवता का तकाजा है[१]।

१—सन् १९४९ के स्वतन्त्र भारत के नवीन संविधान के द्वितीय भाग में 'नागरिकता' शीर्षक प्रकरण में विभिन्न व्यक्तियों की नागरिकता तथा नागरिकता के अधिकार अनुच्छेद ५ से ११ तक में अत्यन्त सुस्पष्ट तथा विस्तृत रूप में वर्णित हैं।

परिशिष्ट

मानवीय अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा[1]

मानवीय अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा को, सभी मनुष्यों तथा सभी राष्ट्रों के सामान्य स्तर के रूप में अन्त तक, प्राप्त करें, कि प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के प्रत्येक अंग इस घोषणा को सतत ध्यान में रखकर, इन अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं के गौरव को शिक्षा-दीक्षा द्वारा बढ़ाने के लिये प्रयत्न करेंगे और प्रगतिशील उपायों द्वारा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, उनके सार्वलौकिक और कार्यक्षम मान्यता तथा अवलोकन द्वारा, दोनों, सदस्य राष्ट्रों और प्रादेशिक मनुष्यों के लिये, जो उनके न्याय-प्रभुत्व में आते हैं, प्राप्त करें।

धारा १—सभी मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुए हैं और प्रतिष्ठा तथा अधिकारों में समान हैं। वे तर्क तथा सद्‌विवेक संयुक्त हैं। उन्हें एक दूसरे के साथ भाई चारे की भावना से कार्य करना चाहिये।

धारा २—(१) प्रत्येक, इस घोषणा में स्पष्ट किये गये सभी अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का, बिना किसी भेद-भाव, जैसे जाति, रङ्ग, लिङ्ग, भाषा, धर्म, राजनैतिक या अन्य मत, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक मूल, सम्पत्ति, जन्म तथा पद का अधिकारी है।

(२) अतएव, राजनैतिक न्यायप्रभुत्वता या अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के आधार पर किसी देश अथवा प्रदेश (जिसका मनुष्य निवासी

१—१० दिसम्बर १९४८ को संयुक्त राष्ट्र की वृहद् सभा द्वारा स्वीकृत तथा घोषित।

है) में कोई भेद-भाव नहीं रखा जायगा, चाहे यह प्रदेश स्वतन्त्र, ट्रस्ट, आधीनस्थ, या स्वतन्त्रता की और किसी परिमितता में हो।

धारा ३—प्रत्येक को, जीवन, स्वतन्त्रता और आत्म-रक्षा, का अधिकार है।

धारा ४—किसी को भी गुलामी या दासता में न रखा जायगा, गुलामी तथा गुलामों के व्यापार की प्रत्येक दशा का निषेध होगा।

धारा ५—कोई भी यातना, निर्दयी, अमानुषिक या नीच व्यवहार या दण्ड का शिकार न होगा।

धारा ६—प्रत्येक को कानून के सम्मुख हर स्थान पर मानव मान्यताओं का अधिकार है।

धारा ७—सभी कानून की दृष्टि में समान हैं तथा बिना किसी भेद-भाव के कानून से रक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं। सभी बिना भेद-भाव के, जिससे इस घोषणा का उल्लंघन होता है, भेद-भावपूर्ण उत्तेजना के विरुद्ध, समान रक्षा के अधिकारी हैं।

धारा ८—प्रत्येक को ऐसे कार्यों का, जिनसे मनुष्य के मूल अधिकारों का उल्लंघन होता है, जो कि विधान या कानून द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं—सामर्थ्यवान राष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा कार्यक्षम प्रतिकार करवाने का अधिकार है।

धारा ९—कोई भी अविहित कैद, नजरबन्दी या देश निकाले का शिकार न होगा।

धारा १०—प्रत्येक को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को निर्धारित करने अथवा उसके प्रति लगाये गये किसी प्रकार के अभियोग को स्वतंत्र

और निष्पक्ष न्यायालय के द्वारा उचित रूप से, पूर्ण समानता में सुनवाई करवाने का अधिकार है।

धारा ११—(१) प्रत्येक को अधिकार है कि वह निर्दोष माना जाय, जब तक कि उसके प्रति लगाये गये दण्डनीय अभियोग, कानूनी तौर से एक आम मुकद्दमे में, जिसमें कि उसको अपनी सफाई के पूर्ण साधन उपलब्ध हों, साबित न हो जायं।

(२) कोई भी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपने किसी कार्यों या भूलों के कारण, जो कि दण्डनीय अभियोग न बने हों, जब कि वे किये गये थे, दण्डनीय अभियोग का दोषी न माना जाय। दण्डनीय अभियोग करते समय जो दण्ड अनुकूल था, उससे अधिक दण्ड न दिया जाय।

धारा १२—कोई भी न तो अपने निजी, पारिवारिक, घर या पत्र-व्यवहार में हस्तक्षेप का शिकार होगा और न उसके मान और कीर्ति पर चोट की जायगी। प्रत्येक को इस प्रकार के हस्तक्षेप और चोट के विरुद्ध कानून से रक्षा प्राप्त करने का अधिकार है।

धारा १३—(१) प्रत्येक को अपने देश की ही सीमा में घूमने और रहने की स्वतन्त्रता का अधिकार है।

(२) प्रत्येक को अपने देश या किसी भी देश को छोड़ने तथा अपने देश में लौट आने का अधिकार है।

धारा १४—(१) प्रत्येक को यातनाओं से बचने के लिये दूसरे देशों में शरण तथा उपभोग का अधिकार है।

(२) इस अधिकार का उन अभियोगों पर, जो यथार्थ

में अराजनैतिक अभियोगों से हुए हों अथवा ऐसे कार्यों से जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों और उद्देश्यों के विपरीत हों, पर विचार नहीं किया जा सकता।

धारा १५—(१) प्रत्येक को एक राष्ट्रीयता का अधिकार है।

(२) कोई न तो अपनी राष्ट्रीयता से जबर्दस्ती च्युत किया जायगा और न अपनी राष्ट्रीयता को बदलने के अधिकार से वंचित रखा जायगा।

धारा १६—(१) प्रौढ़ावस्था को प्राप्त स्त्री और पुरुष को, जाति, राष्ट्रीयता या धर्म की परिमितता के बिना, विवाह करने तथा परिवार बसाने का अधिकार है। वे विवाह, विवाह के समय तथा तलाक देने में समान अधिकार प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(२) विवाह इच्छुक पति या पत्नी की केवल स्वतन्त्र और पूर्ण सहमति होने पर ही होगा।

(३) परिवार, समाज की प्राकृतिक, मूल गुट एकाई है और समाज तथा देश से रक्षा प्राप्त करने का अधिकारी है।

धारा १७—(१) प्रत्येक को अकेले या दूसरों के साथ संघरूप में सम्पत्ति रखने का अधिकार है।

(२) कोई भी अपनी सम्पत्ति से जबर्दस्ती वंचित न किया जायगा।

धारा १८—प्रत्येक को विचार, सद्विवेक और धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार है। इस अधिकार में—अपने धर्म या विश्वास को बदलने तथा एकान्त में, या जाति में दूसरों के साथ, या आम जनता में या निज

स्थान में—शिक्षा, आचरण, पूजा और अवलोकन की स्वतन्त्रता का अधिकार सम्मिलित है।

धारा १९—प्रत्येक को मत तथा विचार-प्रकाशन की स्वतन्त्रता का अधिकार है। इस अधिकार में सीमाओं का बिना विचार किये हुए, किसी भी साधन द्वारा सूचना, विचारों को ढूँढ़ने, प्राप्त करने तथा देने और बिना हस्तक्षेप के मत संग्रह करने का अधिकार भी सम्मिलित है।

धारा २०—(१) प्रत्येक को शान्तिपूर्ण सभा और संघ बनाने की स्वतन्त्रता का अधिकार है।

(२) किसी के भी साथ, संघ में सम्मिलित होने के लिये जबर्दस्ती न की जाय।

धारा २१—(१) प्रत्येक को अपने देश की सरकार में प्रत्ययक्ष रूप से या स्वतन्त्र रूप से चुने हुए प्रतिनिधि के द्वारा भाग लेने का अधिकार है।

(२) प्रत्येक को अपने देश के सार्वजनिक कार्यों में समान रूप से भाग लेने का अधिकार है।

(३) जनमत के आधार पर ही सरकार का शासन होगा, यह मत सामयिक और यथार्थ चुनावों में सार्वलौकिक और समान निर्वाचन के अधिकार द्वारा प्रकट किया जायगा। यह चुनाव अप्रकाशित वोट या स्वतन्त्र अनुरूप निर्वाचन-प्रणाली द्वारा होगा।

धारा २२—प्रत्येक को समाज के सदस्य होने के नाते सामाजिक रक्षा का अधिकार है और उसे राष्ट्रीय प्रयत्न और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा तथा प्रत्येक देश के सङ्गठन और साधनों के अनुसार, आर्थिक,

सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का, जो कि प्रसकी प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिये अति आवश्यक है, प्राप्त करने का अधिकार है।

धारा २३—(१) प्रत्येक को काम करने, व्यवसाय को स्वतन्त्र रूप से चुनने, काम की उचित और अनुकूल अवस्थाओं तथा वेकारी के प्रति रक्षा प्राप्त करने का अधिकार है।

(२) प्रत्येक को बिना किसी भेद-भाव के, समान काम पर समान वेतन प्राप्त करने का अधिकार है।

(३) प्रत्येक जो काम करता है, उसे यह अधिकार है कि मानव-प्रतिष्ठा की सत्ता के योग्य अपने और अपने परिवार के भविष्य के लिये, अनुकूल प्रतिफल प्राप्त करे और यदि आवश्यक हो, तो सामाजिक सुरक्षा के अन्य उपायों द्वारा उसकी शेषपूर्ति करे।

(४) प्रत्येक को अपने हित की रक्षा के लिये व्यापारिक संघ बनाने या उसमें सम्मिलित होने का अधिकार है।

धारा २४—प्रत्येक को आराम और अवकाश का अधिकार है। इसमें उचित काम के घण्टों की परिमितता और वेतनसहित सामयिक छुट्टी का अधिकार भी सम्मिलित है।

धारा २५—(१) प्रत्येक को स्वास्थ्य के लिये, और अपने तथा अपने परिवार के सुख के लिये, एक पर्याप्त जीवन स्तर का अधिकार है, जिसमें खाना, कपड़ा, मकान, चिकित्सा और आवश्यक सामाजिक सेवायें तथा बेकारी, बीमारी, अङ्गभङ्ग, वैधव्य, वृद्धावस्था और जीविका की कमी की ऐसी दशा में, जो उसकी शक्ति के बाहर हैं, सुरक्षा का अधिकार है।

(२) मातृत्व और शैशव को विशेष ध्यान की आवश्यकता है। सभी बालक चाहे विवाह द्वारा या अन्यथा उत्पन्न हुए हों, समान सामाजिक सुरक्षा का उपभोग करेंगे।

धारा २६—(१) प्रत्येक को शिक्षा का अधिकार है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में शिक्षा निःशुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी, विशेष कला-सम्बन्धी या व्यावसायिक शिक्षा सामान्यतः उपलब्ध होगी, और उच्च शिक्षा सभी को योग्यतानुसार मिल सकेगी।

(२) शिक्षा मानव व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये लक्षित, और मानवीय अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के गौरव को बढ़ाने के लिये होगी। यह सभी राष्ट्रों, जातियों तथा धार्मिक गुटों में विवेक, सहिष्णुता और मैत्री को उन्नत करेगी तथा शान्ति को बनाये रखने के लिये संयुक्त-राष्ट्र के कार्यों को अग्रसर करेगी।

(३) माता-पिता को, अपने बच्चों को दी जानेवाली शिक्षा के चुनाव का, प्रथम अधिकार है।

धारा २७—(१) प्रत्येक को जाति के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने, कला का आनन्द तथा वैज्ञानिक आविष्कारों का लाभ उठाने और उसमें भाग लेने का अधिकार है।

(२) प्रत्येक को वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा ललित उत्पादन—जिसका स्वयं लेखक है-से नैतिक तथा भौतिक हित की रक्षा का अधिकार है।

धारा २८—प्रत्येक, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकारी है, जिसमें इस घोषणा द्वारा स्पष्ट किये गये अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सके।

धारा २९—प्रत्येक के जाति के प्रति कर्त्तव्य हैं। उसमें (जातिमें) ही केवल उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र तथा पूर्ण विकास संभव है।

(२) प्रत्येक को अपने अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने के लिये कानून द्वारा निर्मित केवल ऐसी परिमितताओं का सामना करना पड़ेगा, जिससे कि दूसरों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के गौरव अमान्यवित न हों और एक प्रजातन्त्र पूर्ण समाज की नैतिकता, जन-व्यवस्था तथा आम भलाई की आवश्यक तथा उचित मांग को पूर्ण किया जा सके।

(३) ये अधिकार और स्वतन्त्रताएँ किसी भी प्रकार संयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रयोग में न लाई जायं।

धारा ३०—इस घोषणा के किसी भी अंश के भाषान्तर को इस प्रकार उपलक्षित न किया जाय, जो किसी राज्य, गुट या मनुष्य के किसी भी अधिकार को ऐसे कार्यों में संलग्न करावे, जिससे कि यहां स्पष्ट किये गये अधिकार तथा स्वतन्त्रताओं के उन्मूलन पर लक्षित हों।

तृतीय परिच्छेद

राष्ट्र का विकास

समाज एक सङ्गठन है, जो कुछ तो अज्ञात अथवा अचेतात्मक और कुछ ज्ञात अथवा सचेष्टात्मक विकास का फल है।—फैंकलिन्-एच-गिडिंग्स्

आधुनिक राष्ट्र तथा मानव संगठन की समुचित अभिज्ञता के लिये मनुष्यों का आदिम संगठन अथवा सामाजिक स्वरूप की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है ; किन्तु मनुष्यों के प्रारम्भिक संगठन के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प, अनिश्चित तथा अपूर्ण है। आज भी संसार के कई भूभागों में यथा आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा भारत के दुर्गम गहन अरण्य प्रान्तों में दल के दल मनुष्य हैं, जो जंगली वनमानुसों की तरह जीवन व्यतीत करते हैं।

अन्वेषणकारी कितने ही विद्यार्थियों ने इन लोगों की अवस्था, विचार, सामाजिक रीति, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, आदि विषयों की खोज की है ; और आज भी खोज में संलग्न हैं। इन्हीं खोजों के लेख, तथा अन्यान्य छिटफुट असम्बद्ध एवं अनिश्चित कुछेक प्राप्य संकेत, अतीत के जंगली मनुष्यों की अवस्थासूचक पुस्तकें, ही आदिम मनुष्यों के समाज, संगठन आदि के क्रमिक विकास की सूचना के आधार बन रहे हैं। अस्तु ; इन आधारों पर अवलम्बित ज्ञान को हम नितान्तपूर्ण, निश्चित अथवा एकान्त मान्य नहीं कह सकते।

मनुष्य जाति के प्रारम्भिक संगठन के विषय में हमारा ज्ञान अल्प और अपूर्ण है। प्राचीनकाल या वन्यकाल में मनुष्य एक विचित्र संगठन में रहते थे। वे न तो कृषि करना ही जानते, और न पशु-पालन ही। उनका आहार फल-मूल या जंगली जन्तु थे। यह कहा जाता है कि जंगली शिकारी दल एक शिकारी संस्था के रूप में था। यह सामाजिक समूह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। ऐसे प्रत्येक शिकारी-दल का एक निजी चिह्न था—किसी का साँप, किसी का कंगारू।

इसी पहले दल से परिवार का विकास हुआ, जिससे आपस में रिश्तेदारियों की स्थापना हुई। भूमि के जोतने से परिवारों को एक खास स्थान पर बस जाना पड़ा। यही सभ्य जीवन का प्रारम्भ था। सभ्यता की प्रथम ज्योति नदियों की तराइयों में फूटी और धीरे-धीरे जब सामुद्रिक व्यापार बढ़ा, तब समुद्र के तटों पर नगरों का निर्माण हुआ। इस प्रकार भौगोलिक परिस्थिति भी भिन्न पुरुषों के विशेष गुणों के निर्माण में अधिकतर सहायक हुई।

व्यापक रूप में यह कहा जा सकता है कि यह जातीयता थी, जिसने मनुष्यों को एक बन्धन में बाँधा। सब कार्यों में अधिकार-भार परिवार के सब से बड़े पुरुष या किसी-किसी देश में सब से बड़ी स्त्री पर अवलम्बित था। पारिभाषिक रूप में प्रथम परिवार के संगठन को पैत्रिक तथा दूसरे को मात्रिक कहते हैं। वे सम्मिलित रूप से भेड़ चराते, खेती करते या व्यवसाय करते और उसकी आमदनी आपस में बाँट लेते थे। समाज के विकास की इस अवस्था में पशुपालन का भी बड़ा हाथ रहा है।

कुछ लेखक रक्त-सम्बन्ध को ही राष्ट्र की उत्पत्ति की पूर्ण कल्पना

मानते हैं। परिवार हालांकि वास्तव में एक अराजनीतिक, जातीय एवं बाहरी संगठन है, पर शायद यही वह आधार है, जिस पर राष्ट्र का आदर्श और निर्माण अवलम्बित है। पर यही काफी नहीं, भीतरी शान्ति के लिये और बाहरी हमलों से बचने के लिये तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये परिवार उपजाति मे, उपजाति जाति में और ग्राम-पंचायत में परिणत हुए।

परिवार के इस विस्तार का स्वाभाविक अर्थ कुछ बातों में परिवार पर किसी बड़े अधिकारी के अधिकार का प्रसार है। यह कार्य साधारणतः दल-नायक करता था। कुछ वर्गों में वयस्कों की पंचायत भी इस कार्य का प्रतिपादन करती थी। धीरे-धीरे उपजाति-नायक को सरकार के अधिकार प्राप्त होने लगे। बाद में उसने अपना प्रभाव सुदृढ़ ही नहीं किया, वरन् वह अन्य जातियों पर भी जमाने लगा। इसी प्रकार आदिकाल के सैनिक राजाओं का विकास हुआ। साधारण तौर से इसी को सामाजिक और राष्ट्रीय संगठन का मूल मानते हैं। इस संगठन में आवागमन की असुविधा एवं जाति और उपजाति के झगड़े बाधा-स्वरूप सदैव उपस्थित थे।

प्राचीन काल में राजनीतिक जीवन पर धर्म का प्रभाव अत्यधिक था। यह धर्म ही था, जिसने अधिकारी वर्ग की सत्ता को अधीन वर्ग पर विशेष रूप से जमा दिया था। अपनी आज्ञा को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अधिकारीवर्ग धर्म की सहायता लेते थे। सब से पहला कानुन विधि का विधान माना जाता था। इस परिभाषा से कई प्रश्न आसानी से हल हुए हैं। प्रथम तो राजा को नैसर्गिक शक्ति

माना जाता था। दूसरा वंश-परम्परा के अधिकार अपरिवर्तनीय समझे जाते थे। कुछ समय पश्चात् यह भी कहा गया कि राजा ईश्वर के बराबर है और उसकी आज्ञा मानने के लिये प्रत्येक प्रजा बाध्य है। अतः राष्ट्र का नैसर्गिक विकास-सिद्धान्त ही स्वेच्छाचारी राजा के समर्थन का कारण बना।

प्राचीन राष्ट्र को इन बातों के अलावा आन्तरिक अवस्था उन्नत रखने एवं अन्य राष्ट्रों के हमले से बचाने के लिये शारीरिक शक्ति की बड़ी आवश्यकता थी। कहा जाता है कि यह शारीरिक शक्ति ही थी, जिसने राष्ट्र के अस्तित्व को कायम रखा। परन्तु; यह ठीक नहीं है। यह सच है कि शारीरिक शक्ति आदि संगठन में सहायक हुई थी, परन्तु अन्य बातें भी राष्ट्र-निर्माण में काम करती रही होंगी। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता है, त्यों-त्यों शारीरिक जोर का ह्रास होना स्वाभाविक है। कारण, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'वाली नीति अधिक दिनों तक नहीं चल सकती।

स्वतन्त्र आधुनिक राष्ट्र का आधार सम्मति और सहयोग पर अवलम्बित है। इसी दृष्टिकोण से अंगरेज दार्शनिक टामस हिलग्रीन ने कहा था कि राष्ट्र का आधार इच्छा है, न कि जोर। कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि राष्ट्र मनुष्य के विचारपूर्वक सोचने और एक निर्णय पर पहुंचने का फल है और वही सरकार के निर्माण का कारण हुआ। कौटिल्य ने कहा है कि राष्ट्र-विहीन समाज में फैली हुई अराजकता ने ही मनुष्य को राजा बनाने को प्रेरित किया, ताकि यह राजा उनकी रक्षा करे। सतरहवीं सदी के अंगरेज दार्शनिक हौब्स

ने भी राजा के प्रमुख अधिकार को मानते हुए ऐसी ही सम्मति प्रकट की है; इसका आधार समाज-बन्धन-सिद्धान्त है। दूसरे अंगरेज विचारक लॉक ने भी राष्ट्र के आविर्भाव के सम्बन्ध में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। किन्तु; साथ ही उनका यह भी कहना है कि समाज ही सर्वशक्तिशाली था, न कि राजा। प्रख्यात फ्रेंच लेखक रूसी समाज के सदस्यों की पूर्ण सत्ता को स्वीकार करते हुए समाज-बन्धन के सिद्धान्त को राष्ट्र की उत्पत्ति का कारण मानता है।

मानव-सभ्यता के विकास से यह सिद्ध है कि सरकार में मनुष्यों की राय रहती थी। किन्तु; इसका उपर्युक्त सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजनीतिक विचारक इस सिद्धान्त को अब नहीं मानते, क्योंकि इतिहास में इस सिद्धान्त के आधार पर किसी राष्ट्र के निर्माण का प्रमाण शायद ही मिले।

समाज-संगठन के प्रारम्भ में व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन-यापन करता था। तर्काभाव और अन्धविश्वास ही इनका अवलम्ब था। वैयक्तिक स्वार्थ को जातीय स्वार्थ के सम्मुख झुकना पड़ता था। चूँकि सर्वदा लड़ाई झगड़े का बाजार गर्म रहता था, अतएव जीवन-यापन के लिये यह आवश्यक था। सम्प्रति इन खतरों का लोप हो चुका है। आज समाज इसके लिये हमेशा तैयार रहता है कि सब के सब सुन्दर जीवन व्यतीत करें। आधुनिक काल में व्यक्ति समाज के लिये और समाज व्यक्ति के लिये समझा जा रहा है। पहले अधीनता ही समाज की विशेषता थी, किन्तु अब स्वाधीनता ही इसकी विशेषता है।

आधुनिक राष्ट्र क्रमिक विकास का फल है। जहाँ एक ओर कौटुम्बिक सम्बन्ध पारिवारिक एवं जातीय भावना का प्रेरक बना वहां एक दल की दूसरे दल पर विजय एवं कुछ मामलों में देश-देशान्तर चला जाना आदि राष्ट्रों की स्थापना का कारण हुआ। लड़ाकू मनोवृत्ति ने भी इसमें कम भाग नहीं लिया। इसके सिवा किसी देश की प्राकृतिक बनावट ने भी यह साफ कर दिया कि वहाँ के लोग अपने देश में उपजनेवाली वस्तुओं से सन्तुष्ट रहेंगे या जीवन से खेलनेवाले व्यापारी, विजेता या साम्राज्य-निर्माता बनेंगे। आर्थिक कारणों एवं धार्मिक भावनाओं ने भी सम्भवतः राष्ट्रों तथा साम्राज्यों के बनने विगड़ने में साहाय्य पहुंचाया होगा।

बहुतेरे देशों में इस विकास के साथ राजनीतिक जागरण हो रहा था। विभिन्न भाषायें एवं सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाज एक मनुष्य को दूसरे से पृथक कर रहे थे एवं लोगों के सामूहिक खतरे और गौरव में भाग लेने के कारण आधुनिक राष्ट्रों की नीव डाली जा रही थी। बहुत दिनों तक जनता का सरकार में प्रत्यक्ष अधिकार बहुत कम था और राजनीतिक क्षेत्रों में राजा की इच्छा-अनिच्छा एवं पारस्परिक झगड़े ही विशेष स्थान रखते थे। आधुनिक जनतन्त्रमूलक राष्ट्र तुलनात्मक दृष्टि से हलका है। अभी तक यह उन्नत शिखर पर नहीं पहुंच सका है। यह मानव-समाज के आवश्यकतानुकूल मानव-सङ्गठन की प्रगतिशील परिणति है, जिस पर सभ्यता का निर्माण अवलम्बित है।

चतुर्थ परिच्छेद

आधुनिक राष्ट्र

किसी देश में राष्ट्र का स्थान अन्य संस्थाओं से उच्च है। चूँकि राष्ट्र की सदस्ययता तथा सदस्यों के कार्य अनिवार्य हैं, और ये स्वेच्छा से नहीं हैं, अतएव इस विषय में यह अपनी विशेषता रखता है। इसके अलावा जहाँ धार्मिक संस्थाएँ, मजदूर-सङ्घ या सांस्कृतिक समितियाँ दुनिया के किसी भी भाग में सदस्य बना सकती हैं, वहाँ राष्ट्र को अपने ही क्षेत्र में सीमित होकर काम करना पड़ता है। कुछ मामलों में राष्ट्र की सदस्यता में गम्भीरता और व्यापकता रहती है। एक आदमी एक राष्ट्र से अधिक राष्ट्र के अधिकार को स्वीकार नहीं कर सकता। राष्ट्र अपने क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकारी संस्था है, एवं उसके अधिकार सीमित नहीं हैं।

राष्ट्र सिर्फ नाना प्रकार के सङ्घों का निर्माण ही सम्भव नहीं बनाता, वरन्, सङ्घों के कार्यों तथा उनके अभावों की पूर्ति भी करता है। यह जातियों की रक्षा करता एवं उन्हें सभ्य बनाता है। जब तक राष्ट्र अपने समस्त साधनों से इन कार्यों को सम्पादित करता है, कोई भी व्यक्ति, जो राष्ट्र का है एवं जो उसे स्वीकार करता है, अपने व्यक्तित्व का श्रेष्ठतम विकास कर सकता है।

राष्ट्र की भावना क्षेत्र, जन-संख्या, सङ्गठन एवं राजसत्ता में निहित है। राष्ट्र एक राजनीतिक सङ्गठित इकाई है। यह न तो किसी दूसरे

राष्ट्र का अङ्ग हो सकता है, और न इसका कोई अङ्ग ही किसी अन्य राष्ट्र का अपने ऊपर अधिकार स्वीकार कर सकता है।

राष्ट्र के लिये सुदृढ़ इकाई के रूप में जहाँ तक सम्भव हो, स्वाभाविक या कुछ और स्थान की आवश्यकता है। आधुनिक राष्ट्र का क्षेत्र आकार में विभिन्न प्रकार का होता है। यह विभिन्नता कुछ वर्गमीलों से लेकर लाखों वर्गमीलों तक में हो सकती है। प्राचीन तथा वृहत् साम्राज्यों के साथ छोटे-छोटे नगर-राज्य भी थे। राष्ट्र का क्षेत्र केवल भूमि पर ही सीमित नहीं रहता, प्रत्युत उसका सामुद्रिक तटों तथा तट से प्रायः तीन मील तक समुद्र तक एवं अपनी भूमि के ऊपर आसमान तक होता है।

राष्ट्र के लिये जन-संख्या आवश्यकीय है। बहुसंख्यक जन-समुदाय एक राष्ट्र में एक साथ रह सकें, इसलिये उनमें कतिपय सामाजिक गुणों का विकास आवश्यक है। किसी राष्ट्र की जन-संख्या कितनी होगी, इसका कोई नियम नहीं है, किन्तु नागरिकों की मानसिक, चारित्रिक एवं शारीरिक विशेषता ही बहुत अंशों में किसी राष्ट्र की पूर्णता की द्योतक है।

तीसरी मुख्य बात है सङ्गठन। इसे दूसरे शब्दों में सरकार कह सकते हैं। सङ्गठन का ऐसा होना आवश्यक है कि वह तमाम दिशाओं से आदर प्राप्त करें। राष्ट्र अपनी नीति को कार्य रूप में परिणत करने के लिये सरकार की सृष्टि करता है। इसके समस्त अधिकार एकमात्र राष्ट्र से ही जन-कल्याण के लिये प्राप्त होते हैं। सरकार का निर्माण एक समय विशेष कर व्यक्ति-विशेष द्वारा होता है। किन्तु ; राष्ट्र तो मुख्यतः राजनीतिक विज्ञान है। यह एक कोरा सिद्धान्त है। सरकार का स्वरूप

परिवर्तित हो सकता है, या नव सङ्गठन एवं क्रान्ति के फल स्वरूप कोई दूसरी सरकार कायम हो सकती है, किन्तु राष्ट्र तो स्थायी है।

राजसत्ता राष्ट्र की चौथी आवश्यकता है। हम जानते हैं कि उन लोगों को, जो राष्ट्र के जन्मदाता हैं, सञ्चालन करने तथा उन पर शासन करने के लिये अधिकार की आवश्यकता है। अतएव समाज के लिये नियम-निर्माण की तथा उसके संचालन-अधिकार की राष्ट्र के लिये नितान्त आवश्यकता है। यही विशेष अधिकार, जिसके द्वारा अपनी आज्ञाओं को अपने क्षेत्रों के निवासियों पर राष्ट्र लागू करता है, इसमें शामिल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्र अपने क्षेत्र में प्रभुत्व के बल पर सामूहिक भलाई के लिये इस विशेष अधिकार का सञ्चालन करता है। रक्षा तथा शासन के लिये राष्ट्र एक आवश्यकीय इकाई समझा आता है। यदि हम फ्रांस, सोवियट रसिया तथा भारत, ब्रिटेन, यूनाइटेड स्टेस्ट्स, मेक्सिको या ऐसे ही किसी अन्य राष्ट्र की विशेषताओं की तुलना करें, तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा कि इन सब के मूल में एक ही भावना है, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है।

वैधानिक एवं राजतीतिक सत्ता में क्या अन्तर है, यह जान लेना भी आवश्यक है। वैधानिक सत्ता वह अधिकार है, जो आज्ञा निकालती है। आज्ञाएँ कानून के रूप में न्यायालय द्वारा स्वीकृत रहती हैं, एवं कार्यकारिणी सरकार द्वारा वे कार्यान्वित होती हैं। अतएव यह वैधानिक विशेषता का द्योतक समझा जाता है। राजनीतिक सत्ता को यह अधिकार प्राप्त है कि वह वैधानिक सत्ता को अपने अनुसार चलने के लिये बाध्य करे। उदाहरणार्थ ग्रेटब्रिटेन की पार्लमेंएट को लें। यह एक उच्च

विधान-निर्मात्री सभा है। निर्वाचन के दिनों में यदि मतदाताओं की यह इच्छा हो कि पिछली पार्लमेण्ट के स्वीकृत कानून बदले जाँय, तो वे वैसे ही सदस्यों को जोकि उनकी इस राय से सहमत हैं, अधिक संख्या में चुनेंगे। किन्तु; इस प्रकार का सङ्घर्ष प्रायः कम होता है। सच्ची बात तो यह है कि एक अर्थ में वैधानिक सत्ता ही राजनीतिक सत्ता की सृष्टि है। जनतन्त्रात्मक राष्ट्र में अन्तिम अधिकार नागरिकों के हाथ में रहता है। इससे नागरिकों के उत्तरदायित्व का विकास होता है। यह विषय एक बड़े ही महत्त्व का है।

राजसत्ता से तात्पर्य यह है कि राष्ट्र वाह्य शासनाधिकार से मुक्त है एवं आन्तरिक रूप से राजनीतिक विषयों में उसका निर्णय ही सर्वोपरि है। कारण, वह अपने संगठन से समाज के अस्तित्व का रक्षक एवं पोषक है। इस अनिवार्य शक्ति के व्यवहार में राष्ट्र का यह फर्ज है कि वह जनमत तथा नैतिक सिद्धान्त एवं सत्ता के आदर्श की भावनाओं के साथ काम करे। एक नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह राष्ट्र की भक्ति कुछ शक्ति के भय से नहीं, किन्तु अपने उस कर्त्तव्य-ज्ञान से जो अपनी तथा जन-समुदाय की भलाई के लिये है, करे। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्र में अन्तिम अधिकार की आज्ञा नागरिकों पर दबाव के साथ लागू नहीं होती, वरन् यह तो उन्हीं की सामूहिक इच्छा के प्रतिरूप में है।

दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध रखने में कोई राष्ट्र स्वतन्त्र है। इस पर किसी विदेशी ताकत का किसी भी तरह किसी भी रूप में अधिकार नहीं है। किन्तु; सम्बन्ध-विच्छेद-राष्ट्र-प्रणाली राजनीतिक विकास का उद्देश्य

नहीं है। अनुभव से पता चला है कि विभिन्न जन-समुदाय के पारस्परिक सहयोग के बिना मानवता कदापि सभ्यता तथा उन्नति-पथ पर अग्रसर होने में समर्थ नहीं है। एतदर्थ महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये राष्ट्र-संघ जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई है। आधुनिक राजनीतिक विचारों का उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रों के आधार पर मानव-मात्र की पार्लमेण्ट तथा विश्व-संघ का निर्माण करना है।

पञ्चम परिच्छेद

राष्ट्र का कार्यक्षेत्र

पवित्र नीति के प्रतिपालन द्वारा समस्त समाज का सामूहिक सुख-सम्पादन करना ही प्रायः सभी राष्ट्रों अथवा शासनों का ध्येय है अथवा होना चाहिये।
—जौर्ज वासिंगटन

सम्प्रति राष्ट्र और मनुष्य सम्बन्धी विषय के विचारों में बड़ा परिवर्त्तन हो चला है। सरकारी कार्यक्षेत्र तथा उसके आकार-प्रकार में भी काफी रद्दोबदल हो रहा है। यह ख्याल कि सरकार का मुख्य कार्य आन्तरिक शान्ति रखना एवं विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना है, त्याज्य होता जा रहा है।

अब तो आधुनिक राष्ट्र स्वतन्त्रता, सम्पत्ति एवं सुख की साधना के लिये समझा जाने लगा है। इसके अलावा राष्ट्र तो अब इस स्थिति पर पहुंच गया है कि उसकी वास्तविक उपयोगिता व्यक्ति विशेष एवं समुदाय की भलाई में समझी जाने लगी है न कि नागरिकों पर अधिकार जमाने या उनपर शासन करने में। आज राष्ट्र का कर्त्तव्य अज्ञानता, बर्बादी, दरिद्रता, पशुता तथा रोग को जड़ से दूर फेंकना ही है। एतदर्थ अब वह उन कार्यों को जो पहले व्यक्ति विशेष या जाति के लिये समझे जाते थे यथा, बालकों की शिक्षा, गरीबों तथा असहायों को त्राण एवं आचरणों में सुधार और उन्नति, अपना कर्त्तव्य समझने लगा है।

समस्त नागरिकों की समस्त क्षेत्रों में भलाई करना आज राष्ट्र का

कर्त्तव्य हो गया है। दण्ड राष्ट्र की कल्पना का स्थान सांस्कृतिक राष्ट्र ने ले लिया है। आधुनिक राष्ट्र का कार्य केवल अपने नागरिकों की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्त्ति ही नहीं रह गया है वरन् उसे उनको विभिन्न दिशाओं में स्वशासन का अवसर देना भी है। मानव-दुखों को कम एवं दूर करने के लिये तथा समाज में जो असमानता है, उसे ध्वंस करने के लिये भी प्रयत्न जारी है। इसके अलावा, प्रत्येक व्यक्ति को अधिक-से-अधिक 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता', जिससे राष्ट्र और समुदाय के कल्याण को धक्का नहीं पहुंचता, देना राष्ट्र का एक कार्य मान लिया गया है।

राष्ट्र के कार्य के सम्बन्ध में दो व्यापक सिद्धान्तों का जिक्र किया जा सकता है। पहला सिद्धान्त राष्ट्र के अधिकार और सहाय्य को न्यून कर उसे विकसित करना है। यह व्यक्तिवाद कहलाता है। व्यक्तिवाद राष्ट्र और समाज के कार्यों में, खास कर आर्थिक क्षेत्रों में, हस्तक्षेप के अभाव का समर्थक है। इसे "जैसा चाहो करो" सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक मनुष्य के कतिपय कल्याण-विभाग में व्यक्ति-विशेष की स्वतन्त्रता में राष्ट्र-द्वारा हस्तक्षेप करने के विरोधी हैं। वे राष्ट्र की फैक्टरी कानून, मजदूरी नियम तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की नीति के समर्थक नहीं हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि समाज की भलाई व्यक्ति विशेष की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। अप्रतिबन्ध प्रतिद्वन्द्विता उनका कलाम है। किन्तु अनुभव से पता चलता है कि व्यवहारिकता की दृष्टि से इसमें न्याय और सचाई का अभाव है। वास्तविकता तो यही प्रमाणित करती है कि प्रतिद्वन्द्विता निर्बलों को दबा देती है एवं व्यापक जन-समूह लाभ से वंचित हो जाता है।

'राष्ट एक आवश्यक बला है' इस विचार की पुष्टि भी की जा सकती है। ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है जिससे पता चला है कि व्यक्ति विशेष को अपने पर छोड़ देने से वे न केवल समाज की हानि करते पाये जाते प्रत्युत अपनी भी। हालांकि उन्हें यह अज्ञात रहता। ज्यों-ज्यों आधुनिक जीवन की गुत्थियां बढ़ रही हैं त्यों-त्यों राष्ट्र की नियमावली भी विस्तृत हो रही है।

बहुत से देशों में व्यक्तिवाद का स्थान समाजवादी विचार ले रहे हैं। समाजवादी 'जो चाहो करो' वाली नीति को नहीं मानते। कारण, उनके विचारानुसार यह नीति असीमित व्यक्ति-स्वतन्त्रता, जो समाज के लिये अकल्याणकर है, देनेवाली है। समाजवादी विचारों के समर्थक तो यहाँ तक मानते हैं कि राष्ट्र नागरिकों के केवल राजनीतिक जीवन पर ही नहीं वरन् आर्थिक जीवन पर भी अधिकार करे, उसका सञ्चालन करे।

समाजवादियों की सम्मत्ति में व्यक्तिवादी सरकार उनका, जो उनके पक्ष में हैं, समर्थन करती है। समाजवादी असीमित प्रतिद्वन्द्विता के सिद्धान्त का त्याग करते हैं। उनका ख्याल है कि आर्थिक क्षेत्रों में जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के बरतने से समाजवाद समाज की अधिकतम भलाई करने में समर्थ हो सकेगा। इस तरह समाजवाद वर्त्तमान अवस्था का आमूल परिवर्त्तन वाञ्छनीय समझता है।

समाजवाद के कई रूप हैं। उनमें एक राष्ट्रीय समाजवाद है। इसके समर्थकों का कहना है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों—यथा फैक्टरी, भूमि, खान तथा सम्पत्ति का बँटवारा, पर राष्ट्र का अधिकार

होना चाहिये। इसकी स्थापना शान्तिमय तरीकों से होना उचित है। दूसरा समष्टिवाद है जो समाजवाद का उग्रतम रूप है। इसकी स्थापना एवं रक्षा काम करनेवालों की भलाई के लिये शक्ति के बल पर की जाती है। यह तब तक वाञ्छनीय समझा गया है जब तक कि समस्त वर्ग-विभिन्नता का लोप न हो जाय। इस प्रणाली के अनुसार उत्पादन के साधन सर्वसाधारण के माने जाते हैं। समष्टिवाद सिद्धान्त इस बात की अपेक्षा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे तथा काम करनेवालों को उनकी आवश्यकता के अनुसार धन दिया जाय। इन विचारों को व्यवहारिक रूप देने का प्रयोग रूस में किया जा रहा है। कुछ विद्वान इन दोनों को सर्वथा भिन्न मानते हैं। कारण, समष्टिवाद आखिरी हद तक सर्वसाधारण के जीवन का समर्थक है।

कतिपय लेखक समाजवादी सिद्धान्तों को अव्यवहारिक करार देते हैं। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों के लिये यह एक समस्या है कि किस प्रकार बिना मुनाफे के फसल उत्पादन सम्भव है एवं किस प्रकार राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों विषयों को योग्यतापूर्वक निबाह सकता है। इसके अलावा वे यह भी कहते हैं समाजवाद का झुकाव तो नौकरशाही के, जिसके दुर्गुण प्रत्यक्ष हैं, के विकास के लिये हैं। जनता की अधिकतर भलाई के लिये समाज अपने प्रबल रूप में व्यक्तिस्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध डालनेवाला तथा दैनिक जीवन में सरकार के आदेश पर चलनेवाला प्रमाणित होता है।

उन देशों में जहाँ कि प्रजातन्त्रात्मक शासन है, इन दो सिद्धान्तों के

एकीकरण का प्रयत्न हो रहा है। विद्वानों की यह धारणा हो चली है कि वैधानिक उन्नति तब तक असम्भव है जब तक राष्ट्र नागरिकों को सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में समानता का अवसर नहीं देता।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों की पूर्व कटुता धीरे-धीरे लोप हो रही है। व्यक्तिवादियों के बीच भी ऐसे लोग बढ़ रहे हैं जो समझते हैं कि यदि 'जो चाहो करो' नीति के दुर्गुण कभी नष्ट भी हो जायँ तो भी बिना राष्ट्र के हस्तक्षेप के इसका होना सम्भव नहीं है। अप्रतिबन्ध प्रतिद्वन्द्विता के फलने यह प्रमाणित कर दिया गया है कि जनसाधारण की भलाई के लिये इन मामलों में अधिकाधिक तथा सुदृढ़ सार्वजनिक अधिकार की आवश्यकता है। इस तरह के विचारक एक प्रकार से व्यक्तिवाद से समूहवाद की ओर बढ़ रहे हैं। वे न तो सार्वजनिक अधिकार की प्रतिष्ठा करते और न वैयक्तिक अधिकार की ही। वे हर मामले में अनुभव के अनुसार चलना चाहते हैं। वे किसी प्रकार का सहसा एवं एकदम परिवर्तन नहीं चाहते, किन्तु जनसाधारण एवं जाति की भलाई एवं सुव्यवस्था के लिये क्रमशः बढ़ना चाहते हैं। युद्ध के बाद इस प्रकार की भावना की अपूर्व वृद्धि हुई। इसका प्रमाण कितने ही राष्ट्रों में पूर्णरूप से मिल जाता है। वास्तव में समाजवादी विचार और प्रणाली धीरे-धीरे अनेक राष्ट्रों द्वारा अपनायी जा रही है। आधुनिक युग में 'जो चाहो करो' की नीति सरासर असम्भव है। इसके सम्बन्ध में महात्मा गान्धी का विचार उल्लेखनीय है। 'थोरो' की तरह महात्मा गान्धी भी कम या बेसी, एक प्रकार से अराजकता के ही प्रचारक थे, और उसीकी राय का अनुमोदन करते हुए कहते थे कि मनुष्यों में अपूर्णता के कारण जब तक शासन कार्य आवश्यक

समझा जाता है तब तक के लिये भी शासन श्रेष्ठतम वही होगा, जो प्रजा पर अल्पतम शासन करे।

एक प्रश्न के उत्तर में महात्मा गान्धी ने कहा था—"जिस विधान को मैं अधिक पसन्द करता हूँ, वह राष्ट्र के हाथों शक्तियों का केन्द्रीकरण नहीं, बल्कि न्यायरक्षण अथवा निक्षेपधारित्व के उद्देश्य का परिवर्द्धन होगा। क्योंकि ; मेरी राय में आत्मिक, व्यक्तिगत अथवा अप्रकट अधिकार का उन्मूलन वा विनाशन का अपराध—राष्ट्र विधान के अपराध से कम हानिकारक है। फिर भी अगर शासनविघटन अनिवार्य ही हो पड़े, तो मैं तो न्यूनतम राष्ट्राधिपत्य का ही समर्थन करूँगा।

आधुनिक जीवन की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं की गुत्थियों तथा व्यापक जनतन्त्रात्मक भावनाओं के विकास ने राष्ट्र की कार्य-भावना में परिवर्तन ला रखा है। वास्तव में महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि राष्ट्र का कार्य केवल वर्ग-विशेष में ही सीमित न हो, प्रत्युत् समस्त जातियों के कल्याण के लिये हो।

षष्ठम परिच्छेद

सरकार और उसका स्वरूप

सरकार का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। अरस्तू के जगतप्रसिद्ध वर्गीकरण का आधार जनसंख्या है, जिसपर राष्ट्र की प्रधान शक्ति निर्भर करती है। उसका कथन है कि इस शक्ति या सत्ता का आरोप एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या बहुत से व्यक्तियों में हो सकता है। इस तरह वर्गीकरण किये जाने पर इसके तीन स्वरूप होते हैं। जब सरकार का सञ्चालन एक व्यक्ति द्वारा होता है, तब उसे राज-पद या राज-तन्त्र कहते हैं, जब कुछ व्यक्तियों द्वारा होता, तब उसे कुलीन-तन्त्र और जब बहुतों द्वारा होता, तब उसे पोलिटी कहते हैं।

इस वर्गीकरण को लेकर आगे बढ़ने पर यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब यह भार व्यक्ति-विशेष पर होता है, तब वह जो कुछ करता है, अपने स्वार्थ के लिये या राष्ट्र के लाभ के लिये। यदि वह केवल अपने स्वार्थ के लिये शासन-कार्य करता है, तो हम उसे अत्याचार कहते हैं। यदि कुछ लोग अपने वर्गों के स्वार्थ के लिये करते हैं तब वह अल्प जनतन्त्र एवं यदि बहुत-से गरीब अपने लाभ के लिये शासन-व्यवस्था करते, हैं तो वह प्रजा-तन्त्र या जन-तन्त्र कहलाता है। हमलोगों को यह नहीं भूल जाना चाहिये कि पहले जन-तन्त्र का व्यवहार उस अर्थ में नहीं होता था, जिसमें आज हो रहा है। अब तो इसका अर्थ लोकप्रिय सरकार है, जिसका मतलब अरस्तू के पोलिटी शब्द से है

अरस्तू का यह वर्गीकरण—राजतन्त्र या अत्याचार, कुलीन-तन्त्र या अल्पजन-तन्त्र एवं पोलिटी या प्रजातन्त्र—आज लागू नहीं हो रहा है। कारण विविधता के कारण आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की रचना परिवर्तित हो गयी है।

वर्तमान सरकार का वर्गीकरण दो विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। यह आधार अन्तिम अधिकार की स्थिति पर निर्भर करता है। आधुनिक सरकार में समस्त राजनीतिक शक्ति राष्ट्र के प्रधान या राजा में रहती है या नागरिकों की सार्वजनिक समिति में। इस सिद्धान्त के आधार पर सरकार के निम्नलिखित दो विभाग होते हैं :—(क) स्वेच्छाचारी सरकार, (ख) लोकप्रिय सरकार। राजतन्त्र जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में है, जहाँ कि राजा सिर्फ नाम के लिये राष्ट्र का प्रधान है, लोक-प्रिय सरकार के रूप में हो सकता है। संसार के कितने ही अर्ध सभ्य देशों में स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली प्रचलित है। किन्तु समस्त सभ्य देशों में लोक-प्रिय स्वायत्त-शासन ही प्रचलित है। ऐसी लोक-प्रिय सरकार, जिसका प्रधान राजा है, वैध राज-तन्त्र कहलाता है। लोक-प्रिय सरकार के अति प्रचलित स्वरूप का नाम गणतन्त्र या प्रतिनिधि-मूलक राज्य है।

यह सम्भव है कि राज-तन्त्र या गण-तन्त्र की आड़ में अल्पजन-तन्त्र हो। ऐसी परिस्थिति में इसे सरकार का रूप न कहकर इन दो रूपों में से किसी एक का विकृत स्वरूप ही कहा जायगा। सम्प्रति विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग की शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से नहीं, वरन् परोक्ष रूप से हो रहा है।

अब इन विभिन्न प्रकार के सरकारों के गुण-दोषों का विवेचन भी वांछनीय होगा। शक्ति और कुशलता ही स्वेच्छाचारी सरकार के गुण हैं। चूंकि ऐसी सरकार किसी दूसरे के समक्ष उत्तरदायी नहीं होती, अतः किसी कार्य में किसी से परामर्श लेने की जरूरत नहीं होती। और फलस्वरूप उसके कार्य में विलम्ब होने का अवसर ही नहीं आता। इसका वास्तविक लाभ आवश्यकताकाल में देखा जाता है। जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष है कि स्वेच्छाचारी-तन्त्र या निरंकुश-तन्त्र सर्वसाधारण की भलाई की ओर ध्यान नहीं देता। यह लोक-भावना को मृत बना देता एवं नागरिक तथा राजनीतिक स्वातन्त्र्य को कुचल देता है। सम्भव है कि कुछ निरंकुश शासक-हितैषी स्वेच्छाचारी हों और उनकी भावनाएं उदार हों। ऐसे शासक यदि योग्य और उत्साही हुए, तो राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। किन्तु जैसा कि मिलने कहा है कि हितैषी स्वेच्छाचारिता का सबसे बड़ा दोष है कि ऐसी प्रणाली में केवल एक ही देशभक्त है, और वह है—स्वेच्छाचारी शासक स्वयं। इतना ही नहीं, हितैषी स्वेच्छाचारी भी जनता की विचार-स्वतन्त्रता तथा कार्य-भावना का ध्वंस कर देता है। इसी प्रकार तानाशाही है। इसका आधार, आंशिक रूप में ही सही, ज़ोर है। यह शक्ति, सैनिक गुणों तथा भावनाओं की प्रेरक है। तानाशाही सदा से शीघ्रता या विलम्ब से युद्धाभिमुख होती रही है। फिर ऐसा तो बहुत कम देखा गया है कि एक के बाद दूसरे निरंकुश हितैषी स्वेच्छाचारी हुए हैं। जब स्वेच्छाचारी-शासक-तन्त्र में उदार भावनाओं तथा प्रेरणाओं की कमी हो जाती है, तो वह शासन जनता के लिये असह्य हो उठता है।

यदि सरकार कुछ ऐसे लोगों द्वारा, जो उच्च बुद्धि और योग्यता के हैं, सञ्चालित होती है, तो देश में वर्ग-शासन का श्रेष्ठतम रूप प्रचलित होता है। कार्लाइल ने कहा है कि बुद्धिमानों द्वारा शासित होना मूर्खों का चिरन्तन विशेषाधिकार है। किन्तु समस्या तो यह है कि ऐसे लोग कैसे मिलें और उन पर किस प्रकार यह भार दिया जाय? सच्चे जन-तन्त्र में इस बात का सदैव प्रयत्न रहता है कि शासन-कार्य में राष्ट्र के भले और योग्य व्यक्तियों का, सहयोग प्राप्त किया जाय। जब कुलीन-तन्त्र जो कि धनी वर्ग से भिन्न है, लोककल्याण के उद्देश्य की भावना से कार्य करता है, तो उससे कतिपय सुधारों एवं प्रगतिशील कार्यों की सम्भावना होती है। किन्तु केवल कुशलता ही अच्छी सरकार की एक-मात्र कसौटी नहीं है। सरकार का आदर्श तो समस्त जनता की चारित्रिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होना चाहिये। किन्तु कुलीन-तन्त्र में इसका समावेश बहुत कम है। कुलीन-तन्त्र की प्रवृत्ति बिगड़ कर वर्ग-शासन की ओर चली जाती है और उसका दृष्टिकोण सङ्कीर्ण होने लगता है। इसके अलावा, सब-साधारण के प्रतिनिधित्व के अभाव में अपने वर्ग के लाभ के सामने सर्व-साधारण के वास्तविक लाभ की भावना ठुकराई जाती है, भले ही ऐसे कुलीन-तन्त्रों का उद्देश्य अति उदार ही क्यों न हो।

इन्हीं सब कारणों से जनतन्त्र ही वांछनीय सरकार समझा जाता है। इसका कारण न केवल उसकी अच्छाई है, वरन् वह राष्ट्रोत्थान में बड़ी हद तक साहाय्य पहुँचाता है। शासन-सञ्चालन में जितनी ही ज्यादा संख्या में लोग भाग लेंगे, जनता की भलाई उतनी ही ज्यादा होगी।

और ऐसा होना एकमात्र जनतन्त्र ही में सम्भव है। मेथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है कि जनतन्त्र वह शक्ति है, जिसमें बहुसंख्यक लोगों का सहयोग होता है और इस सहयोग में व्यक्तिविशेष की कमी और निर्बलता दूर हो जाती है।

ब्लयटश्ली का कहना है कि जनतन्त्र में शासक के शासित के समक्ष परतन्त्र होने के कारण केवल अधिकार का अभाव ही नहीं रहता, वरन् उसमें कला और विज्ञान के महत्तर स्वार्थ की अवहेलना भी होती है। किन्तु आगे चलकर फिर उसीने कहा है कि जनतन्त्र में लोक-कल्याण के लिये निर्मित संस्थाएं साधारणतः अच्छी होती हैं और कभी-कभी तो खूब ही अच्छी। इसमें जहाँ एक ओर स्वातन्त्र्य-चैतन्य मध्य वर्ग के लोगों को, जो इसके प्रमुख समर्थक हैं, उन्नत बनाता है ; वहां दूसरी ओर परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक कार्यों से सम्पर्क होने के कारण ज्ञान का विकास होता एवं नागरिक चरित्रता में सुदृढ़ता आती है।

यह सम्भव है कि जनतन्त्र सर्वदा प्रत्येक अवस्था में सर्वप्रवीण प्रबन्ध न हो, किन्तु अन्त में सब बातों पर विचार करने से पता चलता है कि यह ही सरकार का सर्वोत्तम स्वरूप है। प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीति-विशारद सर हेनरी कैम्पबेल-बैनर-मेन ने कहा भी है कि अच्छी सरकार स्वायत्त सरकार का स्थान नहीं ले सकती।

सप्तम परिच्छेद

जनतन्त्र

जनतन्त्र वह शासन-प्रणाली है, जिसमें जनता स्वयं अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन-व्यवस्था करती है। इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मैटशिनी ने जनतन्त्र के आध्यात्मिक पहलू पर जोर देते हुए कहा है कि सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रवीण के नायकत्व में सबके द्वारा सबकी उन्नति जनतन्त्र की वास्तविक आधारशिला है।

संयुक्तराष्ट्र अमरीका के विश्वविश्रुत प्रेसिडेण्ट अब्राहम लिङ्कन का कथन है कि जनतन्त्र जनता की सरकार है—यह जनता द्वारा, जनता के लिए सञ्चालित होती है। यदि सच पूछा जाय, तो सरकार जनता की तो सदैव है, किन्तु जनता द्वारा सरकार का यह अर्थ है कि सरकार का प्रबन्ध प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा या जनता के प्रतिनिधि द्वारा होता है। ऐसी शासन-व्यवस्था में बहुमत का विचार ही सर्वोपरि होता है। किन्तु कभी-कभी जब बहुसंख्यक का शासन अल्पसंख्यक के उचित विचार की भी अवहेलना करता है, उस परिस्थिति में वह प्रबन्ध अन्याय एवं अत्याचारपूर्ण हो जाता है। वास्तव में जनतन्त्र की सची सफलता तभी है, जब कि वह अल्पसंख्यक भी यह अनुभव करें कि सरकार उनका पूरा-पूरा ख्याल रखती है। किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। जब शासन-प्रबन्ध समग्र जन-समूह के

लिए होता है, तब बहुतों के अभाव जाते रहते हैं एवं अल्पसंख्यक की आशंकायें विनष्ट हो जाती हैं।

ब्राइस का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है—आधुनिक जनतन्त्र। इस ग्रन्थ में ब्राइस ने जनतन्त्र की परिभाषा दी है। इस परिभाषा में उसने लिखा है कि जनतन्त्र सरकार का वह रूप है, जिसमें राष्ट्र की शक्ति वैधानिक रूप से किसी वर्गविशेष में नहीं, किन्तु समग्र जाति में रहती है।

उपर्युक्त विचारों को जरा साफ शब्दों में इस रूप में कह सकते हैं कि स्वेच्छाचारी अथवा धनी-वर्ग की सरकार के अन्दर जनता अपना शासन कुछ लोगों पर छोड़ देती है। इसकी सम्भावना बहुसंख्यक लोगों की अज्ञानता और उदासीनता के कारण ही होती है। इसके अलावा, एक कारण ऐसे लोगों का किसी प्रकार के परिवर्त्तन के प्रति अनिच्छा एवं तत्कालीन प्रबन्ध का आदी हो जाना भी है। लोकप्रिय सरकार का आधुनिक आदर्श तो इस सिद्धान्त पर है कि किसी भी राष्ट्र में जनता ही मालिक है एवं सरकार की तमाम शक्तियाँ उसीसे उद्भूत होती हैं।

अंग्रेज दार्शनिक बेंथम के अनुसार किसी सरकार का उद्देश्य अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई है। इससे यही प्रतिपादित होता है कि समस्त नागरिक की अधिकतम भलाई हो, न कि केवल बहुमत की, जैसा कि हमलोग भूल से कभी-कभी समझा करते हैं। ऐसी परिस्थिति आ सकती है, जब कि सरकार को समग्र जाति के बड़े स्वार्थ के लिए व्यक्तिविशेष के स्वार्थ का अपहरण करना पड़े। डिक्टेटरशिप (ताना-शाही) चाहे कुछ की हो या बहुत की, अपने स्वार्थलाभ के लिए है।

वह सरकार के उद्देश्य की विकृति है, कारण, सरकार की असली कसौटी सबसे अधिक लोगों की सबसे अधिक भलाई है। बेंथम ने वर्ग-शासन का समर्थन न कर ऐसी सरकार की बड़ी कड़ी आलोचना की है।

किसी ने यह बहुत ही ठीक कहा है कि किसी प्रकार की सरकार सदा के लिये अपरिवर्तित रह ही नहीं सकती। इसका कारण यह है कि परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं एवं परिवर्त्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। एक विद्वान लेखक ने १९ वीं तथा २० वीं सदी के जनतन्त्र-विषयक विचारों में भिन्नता दिखलाते हुए कहा है कि १९ वीं सदी में जनतन्त्र का उद्देश्य था कि प्रत्येक व्यक्ति तत्कालीन लाभ का अधिकारी बने एवं कोई भी किसी को हानि न पहुंचावे। परन्तु २० वीं सदी में जनतन्त्र का सिद्धान्त यह हो गया है कि लाभ के सृजन के हकदार बनने के लिये सामाजिक सहयोग और स्वाधीनता की आवश्यकता है। लोग एक दूसरे से भिन्न रहकर भी एक साधन तैयार करें, जिससे वे एक दूसरे के सहायक बन सकें। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि वास्तविक जनतन्त्र तो वह है, जो कार्यशील है, वृद्धिशील है एवं प्रगतिशील है तथा जो जनता की राय की कद्र करनेवाला तथा पारस्परिक सेवा के सिद्धान्त एवं लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत है।

जनतन्त्र के दो प्रकार हैं—एक प्रत्यक्ष तथा दूसरा प्रतिनिधि-मूलक। प्रत्यक्ष जनतन्त्र में समस्त मतदाता एकमत होकर कानून बनाते तथा सरकार की गतिविधि नियन्त्रित करते। उस प्रकार के जनतन्त्र में मतदाताओं का वही स्थान है, जैसा एकछत्रात्मक शासन-प्रबन्ध में राजा का होता है। एथेन्स तथा प्राचीन यूनान के अन्य कुछ राष्ट्रों एवं

प्राचीन भारत के कतिपय निम्न राष्ट्रों के, जहाँ शासन-प्रबन्ध स्वयं जनता द्वारा होता था, नाम उदाहरण में लिये जा सकते हैं। वर्त्तमानकाल में स्विटजरलैण्ड इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

किन्तु ऐसी प्रणाली दुनिया से धीरे-धीरे उठ रही है। इसके कारण हैं, आधुनिक राष्ट्र का आकार-प्रकार, सरकार की वे उलझी समस्याएँ, जिनका निराकरण जनसाधारण की सभाओं द्वारा असम्भव है तथा जनता के प्रतिनिधि द्वारा राष्ट्रनीति तथा कर्मचारियों के लोकप्रिय सञ्चालन का सिद्धान्त।

सम्प्रति प्रतिनिधिमूलक जनतन्त्र का प्रचलन हो रहा है। इस सिलसिले में इङ्गलैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका के नाम लिये जा सकते हैं। इन देशों में जनता व्यक्तिविशेष को शासन तथा अधिकार के लिये प्रतिनिधि चुनती है। विस्तृत क्षेत्र, विशाल जनसंख्या, विभिन्न स्वार्थ एवं उनसे सम्बन्धित ज्ञान की अनवरत आवश्यकता के कारण उक्त प्रकार की जनतन्त्र-प्रणाली ही कितने ही देशों में अतीव आवश्यक हो गयी है।

इधर कुछ दिनों से प्रत्यक्ष जनतन्त्र की कतिपय प्रणालियों के प्रतिनिधिमूलक सरकार में लाने का प्रयत्न हो रहा है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रतिनिधि व्यवस्थापिका जनमत के विचार की कद्र शीघ्रतापूर्वक पूर्ण और प्रत्यक्ष रूप से करें।

सर्वसाधारण के स्वार्थविषयक किसी खास प्रश्न को कार्यान्वित करने के लिये कुछ देशों में मतदातावर्ग विभिन्न उपायों का अवलम्बन कर रहा है।

कभी-कभी किसी कानूनी किंवा वैधानिक प्रस्ताव पर मतदातावर्ग की

राय माँगी जाती है। इस हालत में प्रायः साधारण निर्वाचन होता है। और यदि बहुमत प्रस्ताव के पक्ष में आया, तो वह वहाँ का कानून घोषित कर दिया जाता है। इस उपाय को अंग्रेजी में रेफरेंडम कहते हैं।

कभी-कभी कुछ मतदाता व्यवस्थापिका के पास अपने प्रस्तावों को विचारार्थ पेश करते हैं। ऐसा करना 'इनीशियेटिव' कहलाता है।

कभी-कभी कुछ मतदाता यह माँग पेश करते हैं कि उनका निर्वाचित कर्मचारी किंवा सदस्य या तो इस्तीफा दे या नवीन चुनाव के लिये खड़ा हो। इस प्रणाली का नाम 'रिकाल' है। इसके अवलम्बन से मत-दाताओं को अपने प्रतिनिधि के प्रति अपने असन्तोष प्रकाशन का अवसर मिलता है। इसका उपयोग जहाँ एक ओर स्वार्थान्धता और नीचता की पूर्ति के लिये होता है, वहाँ दूसरी ओर इससे जनसमुदाय की भलाई भी हो सकती है। इस प्रथा की व्यावहारिक अड़चनें भी कम नहीं हैं। यही कारण है कि कुछ राष्ट्रों को छोड़ बाकी राष्ट्रों में इसका उपयोग नहीं किया जा रहा है।

बहुत विस्तृत अर्थ में ही सही, इस सार्वजनिक सहयोग-प्राप्ति के प्रदर्शन की एक और रीति है—प्लेबिसाइट अथवा जनमत-ग्रहण, जिससे राष्ट्र को किसी अन्य राष्ट्र का उपभाग बने रहने अथवा अन्य राष्ट्र के साथ सन्धि-संयोग करने की राय जानी जाती है। स्वतन्त्र-निर्द्धारिणी-नीति के अनुकूल ही युद्धोपरान्त समस्त यूरोपीय सङ्गठन में यही व्यवस्था लागू की गयी।

इटाली में फासिस्टों से तथा जर्मनी में नाजियों से अपने-अपने दल के सार्वजनिक सहयोग-प्राप्ति-प्रदर्शन-स्वरूप यही व्यवस्था अपनायी गयी।

यही स्विटजरलैण्ड तथा संयुक्त राष्ट्र में भी सुचारु रूप से परिचालित हुई। किन्तु एकाधिपत्य-शासन-विशिष्ट देशों में दल-सङ्गठन एवं दलबल परिवर्द्धन-प्रचारार्थ इस नीति का दुरुपयोग भी किया जा सकता है।

जान स्टुवार्ट मिल का कथन है कि प्रतिनिधिमूलक सरकार तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक कि निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी न हो जायँ :—

पहली शर्त यह है कि जनता सरकार को मानने के लिये अवश्य तैयार हो। वह किसी भी हालत में इससे विमुख न रहे तथा उसमें इसके सिद्धान्त और प्रणाली के समझने की क्षमता विद्यमान हो।

दूसरी शर्त यह है कि जनता प्रतिनिधिमूलक सरकार तथा राष्ट्र के संरक्षण और स्वातन्त्र्य के लिये मरने-मारने को तैयार रहे। यदि यह बात न होगी, तो पहली शर्त की पूर्ति होने पर भी सरकार में स्थायित्व नहीं आ सकेगा।

और तीसरी शर्त यह है कि जनता योग्यतापूर्वक अपनी इच्छा से अपने नागरिक कर्त्तव्य की पूर्ति तथा अपने अधिकार की देख-भाल करती रहे, ताकि तानाशाही, धनीवर्ग का अधिकार, किंवा नौकरशाही ऐसी सरकार को स्थानान्तरित करने में समर्थ न हो सके।

मिलने जो शर्तें पेश की हैं, उनकी पूर्ति तभी सम्भव है, जब कि जनता सङ्गठित रूप से कार्य सम्हालने की आदी हो, उसमें इतनी क्षमता हो कि वह उचित परिमाण में सार्वजनिक जीवनमें सत्यता का व्यवहार ला सके तथा उसका दृष्टिकोण व्यापक हो। लोकप्रिय स्वायत्तशासन की उन्नति और विकास के लिये यह अतीव आवश्यक है कि वह (जनता)

सर्वसाधारण की भलाई, स्वाधीनता और समानता के आदर्श के विकास के लिये अत्यन्त लगनशील रहे।

लोकप्रिय सरकार की कार्यपद्धति से पता चलता है कि, हालाँकि इसमें बहुतेरे जन्मजात गुण हैं, किन्तु कभी-कभी इसके दोष भी बड़े खतरनाक प्रमाणित होते हैं। ब्राइस ने निम्नलिखित दोष गिनाये हैं :—पहला प्रबन्ध और व्यवस्थापिका को विकृत करने में शक्ति और धन का दुरुपयोग ; दूसरा सेवा के लिये नहीं, वरन् स्वार्थ के लिये राजनीति को काम में लाने की मनोवृत्ति ; तीसरा फिजूलखर्ची की वृद्धि ;चौथा दक्ष तथा अनुभवी लोगों की उचित देख-रेख का अभाव ; पाँचवाँ दलबन्दी की भावना तथा अन्तिम वोट के लिये राजनीतिज्ञों का असम्भव तथा झूठी प्रतिज्ञायें करना। ब्राइस के ही कथनानुसार इनमें प्रथम तीन दोष प्रायः सब प्रकार की शासन-व्यवस्था में पाये जाते हैं। और अन्तिम तीनों का, हालाँकि ये जनतन्त्र से ज्यादा सम्बन्धित हैं, दूर किया जाना ज्यादा असम्भव नहीं है। इस सिलसिले में एक दूसरे प्रसिद्ध लेखक का कथन है कि चूँकि लोकप्रिय सरकार बहुमत को असीमित अधिकार दे देती है, अतः उसका सदुपयोग नहीं हो पाता। स्वेच्छाचारी तथा स्वार्थपरायणों की बन आती है और फलस्वरूप अवस्था अत्यन्त खराब हो जाती है

इन दोषों के अलावा निम्नलिखित सम्भाव्य दोष भी हैं :—

(१) आवश्यकता-काल में कमजोरी का प्रदर्शन—शीघ्रता तथा निर्णय की अयोग्यता।

(२) अस्थिरता तथा अस्थायित्व—विचारों में प्रायः परिवर्त्तन—कार्यप्रणाली तथा सरकारी कार्यकर्त्ताओं में अनवरत परिवर्त्तन।

(३) अबाध्यता—आन्तरिक मतभेद—अधिकार की अवहेलना—हिंसा की शरण लेना—अराजकता का स्वागत और फलतः सैनिक अत्याचार का आगम।

(४) सब को बराबर करने की भावना तथा गुरुता की अवहेलना।

(५) बहुसंख्यक का अल्पसंख्यक पर अत्याचार।

(६) अति नवीनता का प्रेम—प्रचलित प्रथाओं के परिवर्त्तन की भावना तथा पुरानी बातों के मिटाने की तीव्र भूख।

(७) अज्ञानता और बेवकूफी—इससे जनता को बरगलाने की सम्भावना है तथा इसीसे आगे चलकर अपनेता का आविर्भाव होता है, जो अपने स्वार्थ के लिये जनसाधारण को अपने चङ्गुल में फँसाता है।

ऊपर की प्रत्येक बात की जाँच के बाद ब्राइस ने लिखा है कि इनमें अधिकांश प्राचीन यूनान तथा मध्ययुगीय इटली के गणतन्त्रमूलक राष्ट्रों से लिये गये हैं। छोटे-छोटे जन-समूह सामाजिक तथा राजनीतिक बातों में आधुनिक बड़े राष्ट्रों से इतने भिन्न हैं कि हम इसी नाम के राजनीतिक प्रबन्ध से ऐसे ही फल की आशा नहीं कर सकते।

वुड्रो विलसन ने कहा है कि स्वायत्त-शासन, यदि सच पूछा जाय तो, केवल ऐसी प्रणालीमात्र नहीं है कि जब जो मन में आया, जरा सी कोशिश की और काम में ले लिया। वास्तव में यह तो एक चरित्र के रूप में है। आगे चलकर आपने फिर कहा है कि यह तो, यदि दीर्घ अनुशासन के साथ अपनाया गया तो, जनता को आत्म-क्षमता-ज्ञान, आत्मसंयम, व्यवस्था तथा शान्ति का अभ्यास, एवं कानून के प्रति श्रद्धा सिखानेवाला है। इसका ऐसा प्रभाव है कि जनता इन बातों को उस समय भी याद रखती है, जब कि वह स्वयं कानून-निर्माता बनती तथा राजनीतिक अधिकार अपने हाथ में कर लेती है।

अष्टम परिच्छेद

सरकारका गठन

पिछले परिच्छेदोंमें सरकारके रूप-रेखा-विषयक सिद्धान्तोंपर विचार कर चुके हैं। अब उसकी विभिन्न शाखाओंपर विचार करना आवश्यक होगा। सम्प्रति संसारके प्रायः समस्त सभ्य राष्ट्रोंमें सरकारके तीन विभिन्न अङ्ग पृथक्-पृथक् हैं। उनमेंसे प्रत्येक एक संस्थाविशेषके हाथमें है। भारतीय संविधानमें उनके नाम हैं :--

(१) विधानमण्डल—कानून बनानेवाली संस्था।

(२) न्यायपालिका—कानूनको प्रयोगमें लानेवाली संस्था।

(३) कार्यपालिका—शासनप्रबन्ध चलानेवाली संस्था।

विधानमण्डल सम्बन्धी कार्य—पालियामेण्ट या विधानसभा द्वारा सम्पादित होता है। सभ्यताकी प्रगतिके साथ-साथ कानूनका निर्माण अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण हो चला है। कार्यमें परिणत करनेके पूर्व किंवा विचारविभाग द्वारा किसी निश्चयपर पहुंचनेके पूर्व कानूनका बन जाना आवश्यक है। फलस्वरूप राष्ट्रके इन समस्त अङ्गोंमें विधानमण्डल सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

विधानमण्डल एक या दो सभाओंकी हो सकती है। अधिकांश देशोंमें द्वितीयसदन और प्रथमसदन, उच्च और निम्न दो सभाएँ हैं। इनमें निम्न सभाका चुनाव लोकमतके आधारपर होता है। कुछ राजनीतिज्ञ इस बातपर जोर देते हैं कि उच्च सभा उठा दी जाय। कारण, दोनों

सभाओंमें मतभेद होनेपर एक बड़ी संकटपूर्ण परिस्थिति उठ खड़ी होनेकी संभावना बनी रहती है। इधर कुछ दिनोंसे अधिकांश देशोंमें उच्च सभा की शक्ति सीमित हो गई है। साधारण तौरपर सर्वसाधारणकी सभा—निम्न सभा ही वास्तवमें अधिकारिणी है। उच्च सभापर इसीका आधिपत्य है। यह ठीक है कि ऐसे राष्ट्रोंकी कमी है, जहां सिर्फ एक ही सभा है। किन्तु जहां है, वहांके चुनावमें जनताका जितना अधिक हाथ रहेगा, उसकी (उच्च सभाकी) क्षमता उसी रूपमें कम होती जायगी।

न्यायपालिका अथवा विचार-विभागका कार्य झगड़ोंका निपटारा करना एवं कानून भंग करनेवालोंको सजा देना है। विचारक स्वतन्त्र निर्णय कर सकें, इसके लिये आवश्यक है कि विचार-विभागको स्वतन्त्रता प्राप्त रहे। इसी कारण विचारकका पद निश्चित बनाया जाता है। वे किसी अनुचित चाल-चलनके कारण ही पद-च्युत हो सकते हैं। इस अवसरपर हमें यह जान लेना चाहिये कि कानूनका अर्थ लगाते समय विचारक कभी-कभी कानून बनाते भी हैं। आधुनिक राष्ट्रोंमें न्यायालयकी दो शाखाएँ हैं :—दीवानी और फौजदारी या व्यावहारिक तथा आपराधिक। कितने ही फौजदारी मामलोंमें न्यायाधीश प्रायः जूरीकी सहायता लेते हैं। जूरीका कार्य अपराधीको दोषी या निर्दोष घोषित करना है। छोटी अदालत से बड़ी अदालतमें अपील की जा सकती है। प्रायः प्रत्येक देश में हाईकोर्ट हैं, जहाँ अपील सुनी जाकर उसका अन्तिम निर्णय हो जाता है। इङ्गलैण्डमें अपीलकी सबसे बड़ी अदालत हाउस ऑभ लार्ड्स है। कुछ मामलोंमें ग्रेट-ब्रिटेनके उपनिवेशों एवं अधीन देशोंसे इङ्गलैण्डकी प्रिवी कौंसिलकी न्याय-समितिमें अन्तमें अपील हो सकती है।

प्रबन्ध कर्मचारी के हाथ राष्ट्रके प्रबन्ध के विभिन्न विभागों की देख-रेख रहती है। वे देश की शान्ति और सुव्यवस्था का प्रबन्ध करते हैं। राष्ट्र के उद्देश की पूर्ति में वे या तो बड़ी हद तक सहाय्य पहुंचा सकते या खलल डाल सकते। नागरिक अपने जीवन में विशेषकर कार्यकारिणी के ही सम्पर्क में आते हैं। फिर कार्य-कारिणी व्यवस्थापिका की सिर्फ प्रतिनिधि नहीं है। कारण, ऐसे कितने ही विषय हैं जिनमें उसे अपना मूल अधिकार है।

कार्यपालिका वा कार्यकारिणी के कई विभाग हैं। राष्ट्र के मुख्य कर्मचारी के नोचे विभिन्न विभागों के प्रधान होते हैं। प्रत्येक विभाग का कार्य-सञ्चालन एक कर्मचारी-समूह द्वारा होता है। इन विभागों में सर्वप्रथम विभाग का कार्य देश का आन्तरिक शासन-प्रबन्ध है। शान्ति और सुव्यवस्था इस विभाग का मुख्य कारण है। इसके अलावा राष्ट्र के पुलीस-विभाग का संचालन भी इसीके हाथ में है। इसे स्वदेश-विभाग, गृह-विभाग या आन्तरिक विभाग कहा जाता है। दूसरा महत्वपूर्ण विभाग है अर्थ-विभाग। इसका कार्य आय-व्यय का वार्षिक बजट तैयार कर उसे स्वीकृति के लिये व्यवस्थापिका के सन्मुख पेश करना है। यह राष्ट्र की आय का संग्रह और व्यय भी करता है। सरकार का संरक्षण-संगठन युद्ध-विभाग के हाथ में हैं। यह तीन भागों में, जो एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं, बटे हैं। वे हैं सेना, जहाजी बेड़ा तथा वायु-सेना। किसी-किसी सरकार में वैदेशिक सम्बन्ध का कार्य-भार एक खास विभाग के हाथ में रहता है। इसके अलावा ऐसे विभाग हैं जिनका कार्य निम्न लिखित विषयों का प्रबन्ध है। कानून और न्याय,

शिक्षा, कृषि, व्यापार, शिल्प और मजदूर तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य। आधुनिक सरकार के प्रमुख विभागों से रेलवे, पोस्ट-आफिस, तार और बिना तार का तार, विमान तथा जल पथ भी हैं।

सुव्यवस्थित शासन-प्रबन्ध के लिये इन तमाम विभागों में स्थायी कर्मचारियों की नितान्त आवश्यकता है। खास परीक्षाओं द्वारा किंवा चुनाव-समिति द्वारा इन कर्मचारियों की नियुक्ति होती है। इन कर्मचारियों को बड़े सख्त अनुशासन में रहकर विभाग की आज्ञाओं के अनुकूल कार्य करना पड़ता है। जब कि सारी सरकार शासन विभाग के कर्मचारियों द्वारा सञ्चालित होती है तब उसे नौकर शाही या कर्मचारी तन्त्र कहते है। सभी सरकारों में कर्मचारियों का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ है। शासन प्रबन्ध में नौकरशाही का परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से बड़ा प्रभाव रहता है। सरकारी नीति का सञ्चालन न्यूनाधिक परिमाण में इसीके द्वारा होता है। यदि सच पूछा जाय तो शासन प्रबन्ध में नौकरशाही का यदि अधिक प्रभाव रहेगा तो जनता का अधिकार कम हो जायगा एवं यदि नौकरशाही का प्रभाव कम होगा तो जनता का अधिकार अधिक होगा। नौकरशाही का एक दोष और है। उसका कार्य यन्त्रवत् होता है तथा उसके दफ्तर का कार्य बढ़ा हुआ रहता है नौकरशाही नीति और सिद्धान्तों के प्रश्न पर अत्यन्त तत्परता और दूरदर्शिता से विचार करने में सर्वथा असमर्थ होती है। जहां तक नवीन प्रयोग और प्रगति का सम्बन्ध है, उसमें दकियानूसीपन देखा जाता है। इसके सिवा जब तक इस पर दबाव नहीं रहता, ये लोग अनुत्तरदायित्व-पूर्ण तरीके से काम कर गुजरते हैं। फलतः इन कर्मचारियों को सीमित

शक्ति देनी ही वांछनीय है। और इसकी संभावना होनी चाहिये कि इनके निर्णय के विरुद्ध न्यायालय में अपील भी हो सके।

एथेन्स में सार्वजनिक कर्मचारियों का चुनाव लाटरी द्वारा बिना उनकी योग्यता का ख्याल किये होता था। किन्तु अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्मचारियों के चुनाव में जब तक काफी सावधानी नहीं की जाय, सरकार की कार्य-क्षमता में कमी आ जाती है। अनुभवी कर्मचारियों एवं लोकप्रिय प्रणाली के बल पर ही शासन-प्रबन्ध की प्रवीणता और सफलता निर्भर करती है। और इसीके चलते आधुनिक समाज में उच्च श्रेणी के सार्वजनिक लाभ की सम्भावना है। फलतः सुव्यवस्थित तथा दक्ष कर्मचारी की नियुक्तिपर जोर दिया जाना चाहिये। किन्तु यह ध्यान रहे कि उनकी शक्ति कहीं इतनी न बढ़ चले कि वे अपनी ही नीति चलाने लगें। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक सरकारों में जनता का मत ही अन्तिम हो और इसीका अधिकार होना चाहिये।

कार्यकारिणी को समुचित नियन्त्रण में रखना आधुनिक राष्ट्र की एक समस्या है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर मुख्य कर्मचारी अपने शासन के लिये जनता के सामने उत्तरदायी बनाये जाते हैं। ऐसा उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। अमरीका का संयुक्त राष्ट्र पहले का तथा ग्रेट ब्रिटेन दूसरे का उदाहरण है।

अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में प्रेसिडेण्ट (राष्ट्रपति या अध्यक्ष) जो कार्यकारिणी का प्रधान है, जनता द्वारा निर्वाचित होता है। प्रतिनिधि सभा (निम्न सभा) तथा सिनेट (उच्च सभा) के सदस्य जो मिलकर कांग्रेस (केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा) बनाते, जनता द्वारा ही चुने जाते

हैं। अध्यक्ष तथा कांग्रेस दोनों जनता के ही समक्ष उत्तरदायी हैं न कि दोनों आपस में एक दूसरे के समक्ष। अध्यक्ष अपने मन्त्रियों की, जो उसीके द्वारा नियुक्त होते, सहायता से शासन करता है। इसके अलावा स्थायी कर्मचारी का एक बड़ा दल रहता है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र की कार्यकारिणी न तो व्यवस्थापिका द्वारा नियुक्त होती और न उसके द्वारा पदच्युत ही। वैदेशिक विषयों एवं कुछ नियुक्तियों में अध्यक्ष को सिनेट की स्वीकृति लेनी पड़ती है। यह प्रणाली अध्यक्षात्मक प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रेट-ब्रिटेन में केन्द्रीय अधिकारी सपार्लियामेण्ट राजा है। जब नया चुनाव होता है दल या दलों के समूह के नेता पर जिसका हाउस आफ कामन्स में बहुमत रहता है मन्त्रिमण्डल बनाने का भार आता है। मन्त्रिमण्डल में प्रमुख मन्त्री ही रहते हैं। ये अपने अन्य मन्त्रियों तथा स्थायी कर्मचारियों की मदद से सरकारी कार्य का सम्पादन करते हैं। जब मन्त्रिमण्डल की नीति का हाउस आफ कामन्स में बहुमत द्वारा समर्थन नहीं होता तब मन्त्रिमण्डल को इस्तीफा देना पड़ता है एवं नयी सरकार की स्थापना होती है। इस प्रकार की सरकार मन्त्रिमण्डल-मूलक या परिषदात्मक सरकार कहलाती है।

इङ्गलैण्ड में मन्त्री, मन्त्रि-मण्डल और पार्लियामेण्ट के द्वारा मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यह प्रणाली उत्तरदायी-सरकार के नाम से प्रचलित है। इसका मतलब यह है कि जब मतदाता व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के कार्यों से असन्तुष्ट हो जायं तो सरकार परिवर्तित की जा सकती है एवं नये मन्त्री, जिनमें मतदाताओं

का विश्वास होता और जिन्हें उनका समर्थन मिलता, उन स्थानों पर नियुक्त किये जाते।

यह प्रणाली ब्रिटिश साम्राज्य के कनाडा एवं अन्य स्वायत्त शासन प्राप्त उपनिवेशों में प्रचलित है। प्रायः सब उपनिवेशों में पार्लियामेण्ट है जो अपने मामलों में पूर्ण अधिकार का प्रयोग करती है।

औपनिवेशिक सरकार की कार्यकारिणी के प्रधान गवर्नर या गवर्नर जनरल हैं। हालां कि इनकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती है, किन्तु उन्हें अपने कार्य में मन्त्रिमण्डल की सलाह से काम करना पड़ता है। उपनिवेशों के मन्त्रिमण्डल की रचना उन्हीं सिद्धान्तों पर होती है जिन पर ग्रेट ब्रिटेन में।

मन्त्रिमण्डल मूलक या परिषदात्मक सरकार-प्रणाली परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार बदली जा सकती है। यह सरकार के उपर्युक्त तीन अङ्गों में सुन्दर सम्बन्ध कायम रख सकती है। इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि राजनीतिक नेताओं को अपने सारे कार्यों की भूल-चूक के लिये उत्तरदायी बना सकती है। फिर यह छोटी सभा में बहुसंख्यक दल को व्यापक शक्ति प्रदान करती है। इसमें आयी बुराई का निराकरण सरकार को परिवर्तित कर किया जा सकता है। युद्ध या अन्यान्य आवश्यकता-काल में इस प्रणाली में सुधार की आवश्यकता होती है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली का आधार इस पर है कि उसमें सरकार के नियन्त्रण की क्षमता है। मन्त्रिमण्डलमूलक प्रणाली से तुलना करने पर पता चलता है कि यह ज्यादा स्थायी है। कारण, प्रेसिडेण्ड तथा कांग्रेस

का कार्यकाल ज्यादा निश्चित रहता है। इसमें किसी दल-विशेष के कांग्रेस तथा प्रेसिडेण्ट के मन्त्रिमण्डल पर एकमात्र प्रभाव की सम्भावना कम है इस प्रकार बहुसंख्यक का अल्पसंख्यक पर स्वेच्छाचारी शासन का खतरा बहुत-कुछ जाता रहता है। इस प्रणाली के अन्दर कार्यकारिणी विभाग अध्यक्ष के नेतृत्व में अधिक मजबूत और कार्यशील होता है। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में कार्यकारिणी ने अपनी शक्ति की सीमा का उल्लङ्घन किया या नहीं, इसके विषय में अन्तिम निर्णय का अधिकार विचार-विभाग को प्राप्त है। फलतः अध्यक्षात्मक प्रणाली में हालाँ कि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के समक्ष उत्तरदायी नहीं होती कई और नियन्त्रण हैं। कारण, विचार-विभाग और जनमत दोनों को ये अधिकार प्राप्त हैं।

भारत संविधान में—पार्लियामेण्टरी अथवा संसदात्मक व्यवस्थानुकूल नीति ही ग्रहीत हुई है—यद्यपि इसमें एक राष्ट्रपति भी सम्मिलित किये गये है। भारत सङ्घ तथा राज्यों में वस्तुतः मन्त्री पर ही सब कार्यों का दायित्वपूर्ण सञ्चालन का भार अवस्थित हैं।

नवम परिच्छेद

राजनीति-विधान

प्रत्येक राष्ट्र का एक विधान होता है जिसके अनुसार शासन-व्यवस्था होती है। विधान सरकार की शक्ति की सीमा निर्धारित करता एवं व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करता है। यह व्यक्तियों तथा संस्थाओं के राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का निर्धारण करता एवं यह भी निश्चित करता है कि वे किस हद तक राजनीतिक शक्ति के सञ्चालन में भाग ले सकते हैं। यह सरकार की कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका एवं न्याय विभाग की शक्ति की सीमा निश्चित करता है।

विधान का महत्व निरंकुश शक्ति के सञ्चालन के रोकने में है। बिना विधान के किसी राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कारण, यदि सरकार और विभिन्न संस्थाओं, समितियों एवं व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध-निर्धारण करने के कोई प्राथमिक नियम नहीं हैं तो वह स्थिति अराजकता से अच्छी नहीं हो सकती। जब तक कि सरकार सम्बन्धी सङ्गठन के नियम, समय और स्थान विशेष में व्यापक सिद्धान्तों का अस्तित्व नहीं हो जाता, तब तक राष्ट्र के अस्तित्व की सम्भावना नहीं हो सकती। वैधानिक सरकार के लिये, जो व्यापक अर्थ में मनुष्यों की सरकार से भिन्न है, विधान अत्यन्त आवश्यक है। विशेष कर जनतन्त्र के लिये यह आवश्यक है कि शासन-प्रबन्ध इन सिद्धान्तों के आधार पर

हो जिन पर विधान अवलम्बित हैं। संयुक्तराष्ट्र अमरीका तथा दूसरे कितने ही देशों में लिखित विधान है। प्रायः लिखित और अलिखित विधान में भिन्नता दिखाई जाती है। सर्वप्रथम लिखित विधानों में अमरीका का विधान एक है। इसमें सरकार के प्राथमिक अधिकारों का सङ्गठन है तथा उन्हें परिभाषा दी गयी है। इसके अलावा सामूहिक कल्याण के लिये विभिन्न विभागों को ऐसे अधिकार दिये गये हैं जिनसे वे अपनी अधिकाधिक रक्षा एवं उनका लाभप्रद प्रयोग कर सकें। हालाँ कि विधान के ऐसे विचार एवं स्वरूप कतिपय प्राचीन विद्वानों के यथा कौटिल्य एवं अरस्तू के सम्मुख उपस्थित थे; किन्तु कतिपय अधिकारों का लिखित स्वरूप जानबूझ कर इसलिये नहीं दिया गया कि राजाओं की शक्ति का दुरुपयोग न हो तथा ऐसे अधिकारों का प्रयोग किया जा सके। यही कारण है कि ऐसे देश में जहाँ कि विशेष अवसर पर खास जनसमूह द्वारा विधान का निर्माण नहीं हो सका, विधान नहीं है। वहाँ की प्रथाओं, न्याय विभाग के निर्णयों तथा कानूनों में विधान का अस्तित्व पाया जाता है। उदाहरणार्थ इङ्गलैण्ड को ही लें। यहाँ का विधान किसी खास कागज पर एकत्रित नहीं है, किन्तु फिर भी जो उनका व्यापक स्वरूप है वह पूर्ण परिचित तथा ज्ञेय है। भारत का संविधान पृथ्वी का सबसे बड़ा लिखित संविधान है। जिसमें शासन-संसार की अशेष लिखित व्यवस्थायें सम्यकरूप से सन्निविष्ट हैं।

अलिखित विधान में लिखित विधान से अधिक सहूलियत के साथ हेर-फेर किया जा सकता है। ब्रिटेन के विधान में संशोधन करने में अधिक दिक्कत नहीं है। किन्तु संयुक्तराष्ट्र अमरीका किंवा फ्रांस के

विधान का संशोधन करने में उन्हीं तरीकों का अवलम्बन करना होगा जो कि विधान में वर्णित हैं। इसके अलावा लिखित विधान की शर्तों में एक विशेष पवित्रता रहती है। विशेष कर अल्पमतवाले तथा नागरिकों के लिये, खास कर यदि उन्हें लिखित विधान के अनुसार कतिपय अधिकार तथा सुविधाएँ जो प्राथमिक महत्त्व की समझी जाती हैं, मिल जाती हैं, ऐसा विधान आदरणीय हो जाता है। इन्हीं कारणों से कुछ लेखक अलिखित विधान को विकासमुखी एवं शीघ्रता से बदलनेवाला समझते हैं। जब कि लिखित विधान को अविकासगामी एवं परिवर्त्तन से परे करार देते हैं। यह विभिन्नता स्वरूप की है प्रकार की नहीं। दोनों तरह के विधानों की बहुत-सी प्रथाएँ और सिद्धान्त जो सरकार के विकास से विकसित होते हैं, अङ्ग बन जाते हैं।

राष्ट्र के सङ्गठन की निर्धारित रूप-रेखा का लिखित विधान में होना एवं समस्त राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रयोग किसी हद तक वाञ्छनीय है। इस प्रकार के प्रयत्न में अधिक तर्क-वितर्क का होना सम्भव है। इसके अलावा जब घटनाएँ आगे बढ़ जाती हैं विधान ज्यों का त्यों बना रह सकता और ऐसी परिस्थिति संक्रान्ति पैदा कर दे सकती है। अतएव जहाँ तक हो सके सुन्दर विधान बने एवं उसका सम्बन्ध सिद्धान्तों से हो हालाँ कि उसका सम्पर्क सरकार के तमाम विभागों से है। आधुनिक विधानों के निर्माण में यह मनोवृत्ति रही है कि वह विस्तृत हो। ऐसा करते समय सिद्धान्त एवं शासन के सूक्ष्मतर प्रबन्ध के बीच जो सम्बन्ध है उसके प्रति अवहेलना की जाती है। स्वभावतः ऐसा लिखित विधान उसमें वर्णित भाषा का अर्थ लगाते समय तथा न्याय में प्रयोग करते समय

मतभेद पैदा करनेवाला होता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि न्याय विभाग प्रायः लिखित एवं अलिखित विधानों के संशोधन में निर्णयात्मक भाग लेता है। विधान के मजमून तथा परिस्थितिजन्य आवश्यकता एवं विषय के मतभेद की खाई भरने में देश की सर्वोच्च न्यायशाला ने बड़ा योगदान किया है। इसके अलावा जनता ने न्यायालय के निर्णय से उत्प्रेरित होकर इसके पक्ष में विधान परिवर्तन की भी माँग की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वत्वाधिकारी जनता, व्यवस्थापिका तथा न्याय विभाग किसी भी देश के जीवित विधान के सङ्गठन में सम्मिलित एवं अनवरत रूप से कार्यशील रहे हैं।

दशम परिच्छेद

एकात्मक एवं संघात्मक विधान

पिछले प्रकरणों में विभिन्न प्रकार की सरकार का वर्णन किया गया है। इस वर्गीकरण का आधार था राष्ट्र-शक्ति की अवस्थिति। किन्तु विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर भी विधान का वर्गीकरण किया गया है।

जब देश बहुत बड़ा रहता है तो उसका प्रबन्ध किसी एक केन्द्र से होना मुश्किल हो जाता है, इसलिये समस्त क्षेत्र को आवश्यकतानुसार छोटे-छोटे क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। इस तरह के क्षेत्रों का प्रबन्ध दो विभिन्न प्रकार से किया जाता है।

पहला प्रकार वह है जिसमें एक केन्द्रीय शक्ति को समस्त अधिकार बिना किसी प्रतिबन्ध के दे दिये जाते हैं। जब ये छोटे-छोटे एक-राष्ट्र केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित होते एवं उनके समस्त अधिकार उसी सरकार द्वारा प्राप्त होते वह विधान एक-राष्ट्र सरकार के नाम से पुकारा जाता है। यह केन्द्रीय शक्ति ही है जो समस्त क्षेत्रों की समस्त बातों में अन्तिम निर्णय देने वाली होती है। उदाहरणार्थ वह स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के अधिकारों को छीन सकती, उन्हें भंग कर सकती एवं उनके कार्यों को अमान्य करार दे सकती। ऐसी सरकार आवश्यकतानुसार प्रबन्ध एवं नागरिक की भलाई के लिये इन मामलों में अपने अधिकार प्रयोग कर सकती है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे राष्ट्र में इस

विधान के अनुसार एकमात्र केन्द्रीय सरकार ही कानून बनाने वाली है। यह प्रणाली इङ्गलैण्ड, जापान तथा फ्रांस आदि देशों में प्रचलित है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार वर्गीकरण का आधार है अधिकार का क्षैत्रिक बटवारा। इसे संघीय सिद्धान्त कहते हैं। संघीय विधान में केन्द्रीय सरकार एवं निम्न सरकार के कार्यक्षेत्र और अधिकार का स्पष्ट बटवारा रहता है ताकि एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न कर सके। इस विधान के अनुसार अधिकार का विभाजन संघीय सरकर की एक खास विशेषता है। संघीय सरकार में केन्द्रीय सरकार एवं निम्न सरकार दोनों के अधिकार एक लिखित विधान के अनुसार होते हैं। संघीय विधान इसलिये भी बहुत महत्वपूर्ण होता है कि समय-समय पर उठने वाले तमाम प्रश्नों का निपटारा इसी के अनुसार किया जाता है। स्विटजरलैंड और संयुक्तराष्ट्र अमरीका संघीय शासन के प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

साधारणतः संघकी स्थापना से ही यह स्वीकार-सा कर लिया जाता है कि जहां नियम की समानता एवं सामूहिक लाभ की आवश्यकता होगी वहां संघीय सरकार अपनी वैधानिक एवं प्राबन्धित शक्ति का उपयोग करेगी ; किन्तु इन बातों की अवहेलना कर समस्त संघीय देशों में यह देखा जाता है कि केन्द्रीय सरकार और निम्न सरकार के बीच में अधिकारों के बटवारे में एका नहीं हैं। कुछ ऐसे अधिकार प्रायः देखे जाते हैं जो विधान के निर्माण के समय में या तो संघीय सरकार को दे दिये जाते या निम्न सरकार को। ऐसे उदाहरण संयुक्त राष्ट्र अमरीका और कनाडा हैं।

संघका एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि एक प्रबन्ध का लाभ जिसका

सम्बन्ध वाह्य और विस्तृत राष्ट्रीय समस्याओं से है, बड़े क्षेत्रों द्वारा उठाया जा सकता है। संघीय राष्ट्र को जो अधिकार प्राप्त हैं उनका विशेष परिस्थिति में विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रयोग कर अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। इसके अलावा इस प्रथा से उन नागरिकों को भी, जो कुछ नहीं करना चाहते एवं जो संघीय विषयों तथा समस्याओं को बड़ी दूर की समझते हैं, और नहीं तो कम-से-कम अपने स्थानीय विषयों में भी कुछ-न-कुछ करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। संघीय सरकार और राष्ट्र के बीच गुत्थियों एवं समस्याओं का विभाजन भी सुव्यवस्था में सहायक होता है। इसी विषय के ही विशेष अनुभवी विद्वान ब्राइस का कथन है कि संघीय विधान प्रणाली में वैयक्तिक अधिकार और ज्यादा अच्छी तरह सुरक्षित रहते हैं। वास्तव में संघ-वाद मानव सहयोगिता की प्रगति का अति उत्तम द्योतक हैं। यह जनतन्त्र के नेताओं से उच्च श्रेणी की राजनीतिज्ञता एवं नागरिकों की नाना प्रकार की समस्याओं में ऊंचे दर्जे की सतर्कता की अपेक्षा करता है।

ऐसे विधान का एक बड़ा दोष उसकी वह कमजोरी है जो आवश्यकताकाल में यथा युद्ध के समय एवं वैदेशिक मामलों के सम्बन्ध में प्रकट होती है। शासन-प्रबन्ध की दोहरी प्रणाली की गुत्थियां एवं उसकी अतिव्ययता संघ प्रणाली की कमियों में हैं। इसका एक और उल्लेखनीय दोष एक प्रकार के नियम के विभिन्न प्रकार के राष्ट्र के लिये प्रचलन के लिये बाध्य करना है। इसका व्यवहार कुछ मामलों में संघीय सरकार के अधिकारों की वृद्धि कर फलतः प्रान्तों या निम्न राष्ट्र के अधिकार की कमी कर किया जाता है।

संघवाद के दोष हमें एक-राष्ट्र सरकार के गुणों पर विचार करने का मौका प्रदान करते हैं। एक-राष्ट्र सरकार सरलतर एवं साधारणतः प्रबन्ध के लिये सुगमतर है। सारे देश में कानून और शासन प्रबन्ध की सम प्रणाली का विचार कर यह विधान सरकार को अधिक पूर्ण एवं सरकारी कर्मचारियों को ज्यादा कर्मशील बनाता है। किन्तु बड़े-बड़े देशों में किसी एक केन्द्र से शासन प्रबन्ध कठिनाइयों से मुक्त नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा वह स्थानीय भावनाओं का प्रतिरोध कर स्वायत्त शासनके एक क्षेत्र को संकुचित कर देता है।

प्रश्न का दूसरा अंग भी विचारणीय है, एक-राष्ट्र सरकार में वैधानिक समस्या मूलक प्रश्न कम उठते हैं। कारण, केन्द्रीय सत्ता ही विवाद के मामलों में अन्तिम निर्णायक है। संघीय सरकार चूंकि परिवर्तन से परे है अतः इसे कतिपय अनोखी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। पहली दिक्कत यह है कि संघीय सरकार की विभिन्न सरकारों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा कौन करे। इस विषय में व्यवहार की समानता नहीं है। उदाहरणार्थ संयुक्त-राष्ट्र का सुप्रीम कोर्ट ही अन्तिम निर्णायक है। कनाडा में इसके लिये डोमिनियन पार्लियामेण्ट तथा स्विट्-जरलैंड में संघीय व्यवस्थापिका एवं विचार-विभाग दोनों मिलकर वैधा-निक मसलों को हल करते हैं। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये खास विधान में ही बहुत से नियम वर्णित हैं। अन्त में यह जान लेना उपयुक्त होगा कि संघीय राष्ट्र में एक नागरिक को दोहरे कर्तव्य का पालन करना पड़ता है, उसका एक कर्तव्य तो निम्न सरकार के प्रति है जिसमें वह बसता है तथा दूसरा है संघीय सरकार के प्रति।

एकात्मक एवं संघात्मक विधान

संघ प्रणाली का एक बड़ा गुण यह है कि वह नागरिक की राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को एवं अपने क्षेत्र के प्रति कर्तव्य-भावनाओं को एक कर देती है। अनुभव बतलाया है कि संघीय राष्ट्र के नागरिकों की सहयोग एवं शान्त भावनाएं पारस्परिक शंकाओं एवं विश्वासों को नष्ट कर देती तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण को विकसित करती हैं।

इन दोनों प्रकार के विधानों में किसी एक के पक्ष में तब तक राय नहीं दी जा सकती जब तक कि लोगों की, जिनके बीच यह विधान प्रचलित है, शारीरिक एवं मानसिक परिस्थिति पर विचार न कर लिया जाय। किसी देश में किस प्रकार का विधान उपयुक्त होगा इसके लिये यह जान लेना भी आवश्यक है कि स्वायत्त शासन के सम्बन्ध में जनता की योग्यता और अनुभव क्या है।

एकादश परिच्छेद

स्वतन्त्रता और समानता

सुन्दर नागरिकता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ प्रमुख सुविधाएँ दी जायँ। इनमें स्वतन्त्रता और समानता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में नागरिकता के आदर्श और व्यवहार की स्वतन्त्रता और समानता को आधुनिक कल्पना से बड़ी घनिष्ठता है।

प्रत्येक नागरिक को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आत्म-विकास की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। कारण, यही जनतन्त्रात्मक सरकार का बुनियादी सिद्धान्त है। व्यक्ति के दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह होता है कि नागरिक को इसके ध्येय की पूर्ति में सब सुविधाएँ स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब वह स्वेच्छया कार्य करता हुआ दूसरे के अधिकार में हस्तक्षेप न करे। सामाजिक और कानूनी प्रतिबन्धों से मुक्त व्यक्ति को स्वतन्त्र व्यक्ति कहते हैं। वह स्वतन्त्र रूप से विचार और भाषण कर सकता है, एवं वह कानून का पाबन्द है।

जब एक राष्ट्र या जनता के बालिग नागरिकों को उपर्युक्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो और अपनी सरकार के प्रबन्ध में उसका हाथ हो, तब वह राष्ट्र स्वतन्त्र कहा जा सकता है। ऐसी सरकार किसी अन्य जनता या राष्ट्र के हस्तक्षेप एवं आदेश के बिना अपने राष्ट्र के भीतरी और बाहरी

विषयों पर अधिकार रखती है। परन्तु इसे अन्य राष्ट्रों और मनुष्यों के अधिकार और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए कार्य करना चाहिये। ऐसी स्वतन्त्रता वास्तव में राजनीतिक स्वायत्त सरकार की है। व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के सम्बन्ध में शत्रुता तभी संभव है जब कि वह एक के लिये स्वतन्त्रता तथा दूसरे के लिये गुलामी है।

एक व्यक्ति जिसे विवेक की स्वतन्त्रता, भाव-प्रकाशन की स्वाधीनता, निजी सम्पत्ति की रक्षा, वैधानिक समानता एवं आवागमन की स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त हैं, उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्त समझा जाना चाहिये। इस स्वतन्त्रता में जीवन यापन के अधिकार भी हैं। धार्मिक स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि कोई व्यक्ति किसी भी धर्म का पालन कर सकता है और अपने मतानुसार उसके परित्याग करने का भी उसे अधिकार हैं।

राजनीतिक स्वतन्त्रता से मतलब है कि राष्ट्र के कार्यों में बिना प्रतिबन्ध के हाथ और प्रभाव हो। लास्की के शब्दों में इसका यह अर्थ होता है कि व्यक्ति सार्वजनिक कार्य में अपना मस्तिष्क स्वतन्त्रतापूर्वक लगा सके। वह बिना किसी प्रतिबन्ध के सर्वसाधारण के अनुभव में योगदान कर सकता है। उसे अधिकारी तक पहुंचने में सार्वजनिक प्रतिबन्धों को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का सामना न करना पड़े। उसे मत-प्रकाशन की एवं इसी उद्देश्य से दूसरे के साथ अपने मत के संयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

आधुनिक सरकार ने आर्थिक जीवन में भी स्वतन्त्रता की आवश्यकता समझी है। धीरे-धीरे यह समझा जाने लगा है कि जब तक राष्ट्र

व्यक्तियों को व्यवहार की समानता नहीं देता एवं आर्थिक मामलों में खास कर जो कि अति प्राथमिक आवश्यकताएं हैं शोषित होने से बचने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता तबतक यह नितान्त असम्भव है कि व्यक्ति जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके।

कतिपय राजनीति-विशारदों का मत है कि स्वतन्त्रता का अर्थ समानता से विपरीत है। एक व्यक्ति को जब सम्पत्ति और शक्ति की प्राप्ति की सुविधा के व्यवहार की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है तब वह इन चीजों की प्राप्ति प्रचुर परिमाण में कर सकता है। जब व्यक्ति या व्यक्ति-समूह शक्ति और सम्पत्ति का संचय प्रचुर परिमाण में करता है तो इसका प्रभाव यह होता है कि दूसरे इससे साधारण परिमाण से भी वञ्चित हो जाते हैं। धन के विषय में तो यह फल हो ही सकता है कि बहुतेरे दीन और दरिद्र हो जायँ एवं जहाँ तक दूसरी बात का प्रश्न है उसका मतलब है कि उन्हें दूसरे की इच्छा पर निर्भर बना दिया जाय। एक के लिये स्वतन्त्रता का आधिक्य दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक होगा। अतः इसके लिये कुछ प्रतिबन्ध की आवश्यकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता का कोई भी अर्थ नहीं है जब आर्थिक असमानता प्रतिबन्ध का साधन है। इसकी प्राप्ति के लिये स्वतन्त्रता-अविरोधी समानता की बड़ी आवश्यकता है। समानता स्वतन्त्रता से विरोध नहीं रखती वरन् यह उसकी पूरक है। इस महत्त्वपूर्ण विषय को ध्यान में रखते हुए प्रेसिडेण्ड रूजवेल्ट ने कहा था कि हालाँ कि ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनमें मनुष्य समान नहीं है फिर भी करीब-करीब ऐसी समानता की आवश्यकता तो है ही, जिसके चलते प्रत्येक व्यक्ति को यह

सुअवसर मिले कि वह अपने साथियों की तुलना में अपनी सुयोग्यता और गुणों का प्रदर्शन कर सके।

आधुनिक स्वशासित जनता में सब की समानता के सिद्धान्त के प्रचलन की माँग है। इस समानता के अन्तर्गत सम्पत्ति, धाक या अन्य किसी प्रकार का बड़प्पन महत्त्व नहीं रखता है। बेन्थम का कहना है कि जनतन्त्र का यही उद्देश्य है कि सुख और शक्ति के बँटवारे में प्रत्येक को एक के लिये समझा जाना चाहिये और किसी एक को एक से अधिक के लिये नहीं। विभिन्न देशों के वैधानिक सिद्धान्तों की जाँच से पता चलता है कि इस समस्या के इस पहलू का कितना महत्त्व है। प्रत्येक बालिग को अपनी शक्ति के सञ्चालन का अधिकार होना चाहिये। उसे नागरिक के अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त हों। उपर्युक्त सुविधाएँ बिना किसी जातीय, वर्गीय, साम्पत्तिक, धार्मिक या लैङ्गिक भेदभाव के होना आवश्यक है।

ब्राइस ने समानता का वर्गीकरण चार विभागों में किया है। खानगी कानून में जिस राष्ट्र में एक नागरिक का दूसरे से समानता का व्यवहार रहे तो उस नागरिक को हम नागरिक स्वमन्त्रता प्राप्त कहेंगे। उन देशों में जिनमें प्रत्येक बालिग नागरिक को सरकार में भाग लेने या सरकारी नौकरी प्राप्त करने का समान अधिकार है, वहाँ के नागरिक को राजनीतिक समानता प्राप्त कहेंगे। जब किसी जाति या वर्ग का झगड़ा नहीं रहता तब उसे सामाजिक समानता कहते हैं।

ब्राइस के मतानुसार प्राकृतिक समानता मनुष्य के जन्म-काल से ही प्रारम्भ हो जाती है। किन्तु ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता है असमानताएँ

लक्षित होने लगती हैं। आधुनिक सरकार की एक बड़ी समस्या इस असमानता और प्राकृतिक समानता के सिद्धान्त में सामञ्जस कराना भी है।

ब्राइस के मत में आर्थिक समानता का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति, स्त्री या पुरुष सब के पास बराबर धन होने में है। उसका ही मत है कि जनमत का जो कि सरकार का एक स्वरूपमात्र है उद्देश्य नहीं, आर्थिक समानता से कोई सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक राष्ट्र के उद्देश्य की कल्पना से यह मत मेल नहीं खाता।

अनेक आधुनिक राष्ट्रों ने वर्तमान असमानता को दूर करने का प्रयत्न किया है और वे इस ओर लगातार अपने प्रयत्नों का प्रसार कर रहें हैं। इसके अलावा यूरोप के कुछ नये विधानों में सरकार की आर्थिक और सामाजिक नीति तथा कर्त्तव्य का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

द्वादश परिच्छेद

जनमत

बहुमत का न्याय गैस प्रज्वलित प्रकाश के समान उपयुक्त एवं हितकर होता है। व्यवहारानुसार उसको अङ्गीकार या ग्रहण करके भी हम लोग पूर्णता को प्राप्त तो करते ही नहीं, वरन् और भी अपूर्णता की ओर झुकते हैं। उसमें टाल-मटोल अथवा उपेक्षा करने की प्रबल योग्यता होती है और वह भी एक पूर्णतया निश्चित परीक्षण द्वारा—जिसका अन्तिम आश्रय बल होता है और जिसमें साक्षात शक्ति को ही प्रभुत्व का स्वामी न बनाकर सब का सेवक बना दिया जाता है। —ग्लैड स्टोन

आधुनिक राष्ट्र के शासन-प्रबन्ध की सफलता अधिक मात्रा में जनमत के निर्माण और प्रकाशन पर निर्भर है। एक निरंकुश सरकार अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिये प्रतिनिधियों का मत अपने ही किंवा किसी दल-विशेष के पक्ष में कायम रखने की कोशिश करती है। किन्तु जनतन्त्र औसत दर्जे के लोगों में सार्वजनिक कार्य का पूर्ण उत्तरदायित्व दे राष्ट्रीय स्थिरता कायम रखने का प्रयत्न करता है। जब कभी किसी राज्य में कोई सुधार पेश हो, तो इसके विषय में जनसाधारण की राय को स्थान देना वाञ्छनीय है। जनता ऐसे प्रश्नों का निर्णय स्वयं नहीं करती, परन्तु एक ठोस बहुमत बड़ी सावधानी से एक निर्णय पर पहुंचता है। और वह अपने निर्णय को किसी एक या एक से अधिक साधनों द्वारा जो

उस समय यनमत के निर्माण और प्रकाशन के लिये होते हैं, व्यक्त करता है।

बहुमत द्वारा निर्मित और रक्षित पथ ही ठीक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सच्ची बात तो यह है कि किसी देश का जनमत एक विशेष अवसर पर प्रायः ऐसे विषय स्वीकार कर लेता है, जो बाद में अस्वीकृत होते है। अब तक इतिहास भी यही बतलाता है कि किसी भी अच्छे से अच्छे सुधार में प्रारम्भ में जनता ने मुश्किल से साथ दिया है। ऐसी कितनी अवस्थाओं में कतिपय व्यक्तियों ने ऐसे पक्ष का समर्थन किया, जिसका प्रारम्भ में विरोध हुआ। फिर भी अनेक अवसरों पर इस पक्ष के लगातार परिश्रम से जनमत उनके पक्ष में हो गया।

लावेल ने कहा है कि जनमत के हेतु केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं है, और न एक मत ही आवश्यक है। आगे चलकर वे कहते हैं कि मत ऐसा होना चाहिये, जिसमें अल्पमत यदि भाग न भी ले, पर उसे वह भय से नहीं, प्रत्युत दृढ़ विश्वास से स्वीकार करे। संक्षेप में जनमत वास्तव में बहुमत का फल नहीं और इसके प्रकाशन कोई भी साधन केवल बहुमत को नहीं मापता, क्योंकि व्यक्तिमत एक हद तक तौला और गिना जा सकता है। जब हम जनमत का उल्लेख करते हैं तब हम बहुमत को नहीं गिनते, वरन् एक प्रभावशाली बहुमत को गिनते हैं।

अभी तक कोई भी ऐसा ठीक रास्ता नहीं खोजा गया है जिससे जनमत ठीक रीति से निश्चित किया जा सके। जनमत को तैयार करने और प्रकाशन के अनेक रास्तों में से समाचार पत्र, प्लेटफार्म और व्यवस्थापिका सभायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। समितियाँ, शिक्षण संस्थाएँ

धार्मिक और अन्य संस्थाएँ भी इसी में शामिल की जा सकती हैं। समाचार पत्र स्वतन्त्र होने पर अपने कार्य को सुचारु रूप से कर सकेगा। समाचार पत्र की स्वतन्त्रता के बल पर ही जनता अपनी सरकार के कार्य और नीति पर स्वतन्त्रता पूर्वक विचार कर सकती है; जिसमें जनता के अधिकार का सङ्घर्ष होता हो उसका विरोध कर सकती है। इस प्रकार की समुचित आलोचना ही ऐसा शान्तिमय मार्ग है जिसमें जनता को आधुनिक राष्ट्र के शासकों के दुर्व्यवहार को जनमत के सामने आने से नहीं रोका जा सकता। इन दशाओं में सब से अच्छी नीति का निर्माण प्रेसिडेण्ट जेफरसन ने किया है। उन्होंने कहा था कि कानून को उस समय काम में लाना चाहिये, जब सरकार की आलोचना खुले तौर से विद्रोह के रूप में होने की अशंका हो।

जनमत को विषाक्त होने से बचाने के लिये आरम्भ में ही पूरा प्रबन्ध होना चाहिये। ब्राइस ने समाचार पत्रों के धनी मालिकों के विषय में कहा है कि वे एक ही प्रकार के विचार, एकाङ्गी वक्तव्यों एवं झूठी बातों से दिन-प्रति-दिन मतदाताओं पर प्रभाव डालते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी लोग हैं जो सर्वसाधारण के स्वार्थ से सर्वथा भिन्न स्वार्थ के लिये जनता को बरगला कर अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करते हैं। यह आवश्यक है कि समाचार पत्र सर्वथा सत्य, पूर्णसत्य और केवल सत्य का समर्थन करें एवं सब दलों को अपने विचार को व्यक्त करने में समान सुविधा प्रदान करें। किसी भी हालत में समाचार पत्र का स्वार्थी पुरुषों के हाथ में जाना अनुचित है। समाचार पत्र प्रकाशित करनेवाले अच्छे और बुरे, दोनों के लिये ही शक्तिवान् हैं, और किसी गलत पक्ष को

रोकने के लिये उन्हें यथासम्भव अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिये।

अबतक हमने समाचारपत्रों की बातें कही हैं, जो हालाँकि शक्तिशाली हैं, हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु पुस्तकों में अधिक स्थायी बिषयों का वर्णन रहता है। समाचारपत्रों के सदृश ही पुस्तक-पुस्तिकाएँ ज्ञान के प्रसार एवं जनमत को व्यक्त करने के साधन हैं। इस तरह का साहित्य जनता के मस्तिष्क पर एक जबर्दस्त प्रभाव डालता है। हमारा यह विश्वास है कि समाचारपत्र भी यही करते हैं। राजनीतिक शिक्षा का साधन सभामञ्च भी है। रेडियो और सिनेमा भी धीरे-धीरे साधारण व्यवहार में आने लगे हैं। जहाँ प्रेस साक्षर समाज के शिक्षण के काम में आता है, वहाँ प्लेटफार्म और रेडियो निरक्षर जनता को प्रभावित करने के काम में लाया जाना चाहिये। रेडियो का क्षेत्र प्रायः असीमित है। उचित रीति से काम में लाने पर यह बहुत बड़ी जनसंख्या को शिक्षित बनाने के काम में लाया जा सकता है।

जनमत तैयार करने के लिये अन्य प्रभावशाली संस्थाओं में सार्वजनिक संस्थाएँ भी हैं। इसके लिये प्रमुख सदस्यों के भाषण एवं सभा-समितियों में स्वीकृत प्रस्ताव भी काम में लाये जाते हैं। धर्मोपदेक और धर्म-प्रचारक नाना प्रकार के उपायों से जनसाधारण पर अपना प्रभाव डालते हैं। विश्वविद्यालयों, स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों का प्रभाव भी विद्यार्थियों पर—खासकर उस समय, जब कि उन पर विशेषकर ऐसी बातें ज्यादा प्रभाव डालती हैं, खूब ही पड़ता है।

जनमत के प्रकाशन के प्रामाणिक एवं प्रभावशाली साधनों में

व्यवस्थापिका सभा भी है। समय-समय पर नवीन चुनावों का होना ही इस बात की गारण्टी है कि जब कभी किसी देश के जनमत में परिवर्तन होगा, व्यवस्थापिता सभा के लिये होनेवाले चुनाव में वह व्यक्त हो जायगा।

यह भी माना गया है कि निर्वाचन में काम आनेवाले जैसे रिफरेण्डम, इनीशियेटिव और रिकाल जनमत निर्द्धारण के लिये अपूर्ण और बेढंगे तरीके हैं। यही कारण है कि राजनीति-विशारदों ने समय-समय पर प्रतिनिधित्व की नयी और प्रगतिशील प्रणाली पर जोर दिया है, जिससे व्यवस्थापिका सभा किसी देश के जनमत का सच्चा शीशा हो सके। जनमत और व्यवस्था में घनिष्ट सम्बन्ध है। कानून जनमत का ही फल है, यह कथन सभी देशों और सभी युगों के लिये लागू हो सकता है, इसे डायसी स्वीकार नहीं करते। इसके लिये उन्होंने तीन दलीलें पेश की हैं—यथा कानून के परिवर्तन के सम्बन्ध में मत जैसी कोई चीज ही नहीं है। जिस मत से कानून बने, वह जनमत ही हो, यह कोई बात नहीं है। इसके अलावा यह भी हो सकता है कि जनमत की माँग को कार्य रूप में परिणत करनेवाले व्यवस्थात्मक साधन का ही अभाव हो।

आधुनिक राष्ट्र में व्यवस्थापिका सभा का निर्माण बहुमत के वोटों से होता है और व्यवस्थापिका सभा के सामने जब कभी कोई प्रश्न आता है तो निर्णय भी बहुमत के वोटों द्वारा होता है। यह बहुमत एक का भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि विवादग्रस्त प्रश्न पर बहुमत जनमत न प्रकट कर रहा हो। परन्तु ऐसी दशा में बहुमत की अवहेलना

एवं अल्पमत को मानना ही प्रजातन्त्र के लिये वाँछनीय है। विवादग्रस्त प्रश्नों के निपटारे के लिये बहस-मुबाहसा ही उचित है। सिरों का गिनना वांछनीय है न कि उनका तोड़ना।

कुछ देर के लिये बहुमत माना जा सकता है। पर अल्पमत को बहुमत बनाने के परिश्रम से कोई रोक भी नहीं सकता। बहुमत को चाहिये कि वह अल्पमत पर आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा करे। जहाँ अल्पमत के अधिकार और सम्मति की अवहेलना होती है, वहाँ प्रजातन्त्र कभी भी सफल नहीं हो सकता। यह याद रखना चाहिये कि बहुमत का आवश्यक नियम केवल उसी नीति का अनुसरण करना है, जिससे राष्ट्र के अनेक जनों की भलाई हो सकती है अन्यथा बहुमत के राज्य का मतलब केवल बहुमत का अत्याचार होगा। 'पञ्चमुख परमेश्वर-मुख', तब सत्य होगा, जब राष्ट्रीय जनमत विवेकपूर्ण होगा।

जनतान्त्रिक सरकार में जब बहुमत अपनी नीति जनता के अधिकार को समझकर बनावेगा, तब अल्पमतके प्रश्न की कठिनाइयाँ बहुत कुछ कम हो जायँगी। यद्यपि ऐसी हालतों में बहुमत के हाथ में ही राज्य की बागडोर रहती है, तो भी बहुमत अल्पमत के राजकाज में हस्तक्षेप करने के अधिकार और उनके उचित स्थान को मानता है। पर जैसा कि मिल ने कहा हैं कि, किसी-किसी समय ऐसे मौके आते हैं, जब बहुमत एक वर्ग या दल-विशेष के 'कुत्सित स्वार्थ' से प्रभावित होकर ऐसा व्यवहार करता है, जो कि जन-साधारण के अधिकार के खिलाफ होता है ; ऐसी दशा में और बहुमत के अत्याचार की हालत में यदि अल्पमत कार्यशील और सतर्क है और साहस से कार्य करता है, तब वह बहुमत के अनुचित

व्यवहार को रोकने में सफल हो सकता है। यह सावधानी और परिश्रम की लगन है, जो कि ऐसे अल्पमत को अन्त में बहुमत में परिणत कर देता है।

यह देखा जाता है कि ऐसे अस्त्र जिनसे जनता की सरकार उन्नति करती है—चाहे वह व्यवस्थापिका सभा, समाचारपत्र या दूसरी एजेन्सियाँ हों, अपने हक में राजनीतिक कार्य करने को बनाये जा सकते हैं। जनमत तैयार करना बहुत मुश्किल है, और ऐसे देश में, जहाँ जनता में ऐक्य की कमी हो, यह और भी मुश्किल हो जाता है। जीवन की विभिन्न दशाएँ जनता के विभिन्न समूहों के विभिन्न स्वार्थ का मुख्य कारण हैं, हालांकि जनता के लिये एक अच्छी शिक्षा-व्यवस्था इन कठिनाइयों को दूर कर सकती है। विवेकपूर्ण और उद्देश्य की सत्यता रखनेवाली, स्वयं सोचने-वाली और जनता के स्वार्थ के लिये काम करनेवाली और जन-साधारण की हितेच्छु सरकार ही केवल आधुनिक प्रजातन्त्र सरकार के लक्ष्य को पूर्ण कर सकेगी।

त्रयोदश परिच्छेद

राजनीतिक दल

राजनीतिक दल-प्रणाली का प्रजातन्त्र में प्रमुख हाथ है। उनका सम्बन्ध राष्ट्र और स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं से है। वास्तव में जब कभी और जहाँ-कहीं लोकप्रिय सरकार की स्थापना हुई है, सदैव राजनीतिक दल का अस्तित्व रहा है। दल-प्रणाली लोकप्रिय सरकार को चलाने के लिये आसन्न और आवश्यक प्रश्नों पर जनता का ध्यान आकर्षित करती है। राजनीतिक दल उस संस्था-विशेष को कहते हैं जिसके सदस्य कतिपय नियमों पर करीब-करीब सहमत और एक होकर अपने सहयोग से राष्ट्रीय उन्नति में लगे हों।

जब एक राजनीतिक दल प्रजा-विषयक प्रश्न जिससे कि सर्वसाधारण का लाभ हो अपने हाथ में लेता है तब वह अपने कार्य ठीक-ठीक करता है। किसी कारणवश यदि एक दल इस उच्च विचार का त्यागकर किसी विशेष वर्ग का साथ दे या निजी स्वार्थ के लिये सर्वसाधारण के स्वार्थ की अवहेलना करे तो उसे गुट्ट कहते हैं। ऐसा दल एक विकृत रूप धारण कर लेता है उस हालत में इसे विरोधी दल कहते हैं। एक दल जब इस प्रकार विरोधी दल के रूप में हो जाता है तब वह न तो वांछनीय और न लाभप्रद ही रह जाता है।

राजनीतिक दल की एक विशेषता यह है कि जब वह ठीक रास्ते पर

काम करता है तब शक्ति से सिद्धान्त को ज्यादा महत्त्व देता है। एडमण्ड बर्क इस विचार के विशेष भाव से पोषक थे। इस प्रकार एक राजनीतिक दल कतिपय सिद्धान्तों का समर्थक होता है। इङ्गलैण्ड के प्रमुख दल अनुदार, उदार तथा मजदूर दल हैं। इनमें प्रत्येक का विशेष राजनीतिक सिद्धान्त है।

इङ्गलैण्ड और फ्रांस आदि देशों में व्यवस्थापिका में जो दल या कुछ दलों का समूह बहुमत प्राप्त कर सकता है वही देश का शासनप्रबन्ध-भार सँभाल सकता है। विरोधी दल व्यवस्थापिका के भीतर और बाहर उस दल का जो सरकार का सञ्चालन करता, विरोध और समालोचना करके उसे भगाने की चेष्टा करता रहता है। फलस्वरूप एक वा अनेक दल भी विरोधी दल हैं जो कि सरकार में नहीं हैं। प्रायः ऐसा होता है कि यह विरोधी दल बहुमत की सहायता से सरकारी दल का स्थान ले लेता है।

राजनीतिक दल को चाहे उसकी सरकार हो या नहीं, अपने सहकर्मियों को बढ़ाने के लिये अपने नियमों को अधिक प्रभावोत्पादक बनाना पड़ता है। इस प्रकार का राजनीतिक दल जनमत को जाग्रत रखता है। इनके कार्य का एक प्रमुख भाग और भी है :—उन्हें अपने सिद्धान्तों को नवीन कानून बनाकर या पुराने कानून बदल या सुधार कर कार्यरूप में परिणत करना पड़ता है। राजनीतिक दल के चुनाव में ठीक व्यक्तियों का चुनना और व्यवस्थापिकाओं में उन्हें भेजने का प्रबन्ध करना इनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस प्रकार राजनीतिक दल के जो कार्य हैं व विविध एवं उलझे हुए हैं! इनके सफलतापूर्वक सम्पादन के लिये लोकसेवी

कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इससे दल में एक महान दोष आ गया है जिसे दल की नौकरशाही कहते हैं।

राजनीतिक दल की सफलता अधिकतर संगठन की परिधि और कार्य-कुशलता पर निर्भर है। इस संगठन को अपने सदस्यों से अनवरत सम्बन्ध एवं आवश्यकीय कोष की आवश्यकता है। परन्तु इसके नेता का व्यक्तित्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसके नेतृत्व की कसौटी दल के योग्य कार्यकर्त्ता एवं सरकार के योग्य कर्मचारी का चुनाव एवं उसकी सफलता घृणित दलबन्दी के क्षुद्र विचारों एवं संकुचित दृष्टिकोण से ऊपर उठने में तथा अपने गुणों द्वारा जनमत को समझने पर निर्भर है। किन्तु सब से अधिक उसके गुण दल की नीति और कार्य को निर्धारित करने में है ताकि देश के सर्वोच्च लाभ की प्राप्ति हो। उसमें केवल बुद्धि, शक्ति तथा सिद्धान्त-ज्ञान ही नहीं चाहिये वरन् वह निःस्वार्थ हो, उसका दृष्टिकोण व्यापक हो तथा वह प्रगतिशील विचारों का पोषक हो।

व्यवस्थित दल-प्रणाली जनसाधारण की राजनीतिक शिक्षा के प्रसारित करने में अधिक सहायक होती है। उदाहरणार्थ जब कभी अधिकारी दल व्यवस्थापिका में कोई बिल पेश करता है तब वह विरोधी दल की आलोचना से नहीं बच सकता। कभी-कभी यह देखा गया है कि इस प्रकार के वाद-विवाद चुनाव के समय जनता के समक्ष निर्णय के लिये रखे जाते हैं। इस प्रकार कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न जनता के सामने खूब अच्छी तरह आ जाते हैं। फल-स्वरूप बहुमत प्राप्त दल प्रायः संकुचित विभाग सुझाव को स्वीकार करने के लिये तत्पर रहता है और शीघ्रता-दोष से अपने को बचाता रहता है। इसके अलावा दल-प्रणाली ने राजनीतिक

मामले में जनमत को जागरूक रखते हुए एवं लोक-कल्याण करते हुए प्रजातन्त्र के उद्देश्य की पूर्ति की है।

दल-प्रणाली के स्पष्ट तरीके एवं दलमतों की भावना ने बहुतों में नागरिकता का जन्म दिया है। यह अपने अधिकार और प्रभाव की रक्षा करने के लिये दल-मतदाताओं को वोट देने के लिये बाध्य करता है और इस प्रकार से अधिक जन-संख्या की सार्वजनिक कार्य में भाग लेने की भावना को जाग्रत करता है। वास्तव में प्रतिनिधि-मूलक प्रजातन्त्र की सफलता दल के उत्साह, परिश्रम और कार्यकुशलता के ऊपर निर्भर है।

दल-प्रणाली में बुराइयां भी हैं; जब दल के नेता उच्च सिद्धान्त के विरूद्ध कार्य करते हैं तो इसमें अधिकाधिक बुराइयां उत्पन्न हो जाती हैं। दल के निर्णय की गुलामी पाबन्दी से कार्य की स्वतन्त्रता जो कि प्रजातन्त्र की उन्नति के लिये अति आवश्यक है प्रायः रुक जाती है। इससे जनता के एक हिस्से में दलबन्दी की घृणित भावना उत्पन्न हो जाती है। दल के समर्थकों को घूस देने की प्रथा भी कितनी ही बुराइयां उत्पन्न करने वाली हैं। किसी-किसी देश में दल-प्रणाली में अधिकाधिक बुराइयां उत्पन्न करती हैं। स्वार्थी राजनीतिक नेता अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये जनता को अपने पक्ष में कर लेते हैं। यह प्रणाली विरोधी दल के लोगों को सरकार से विलग रखती है। उन्हें केवल विरोध करने का ही मौका रह जाता है। और राष्ट्र उनकी अमूल्य सेवाओं से वंचित रह जाता है। कभी-कभी अपने स्वतन्त्र मत के कारण योग्यतम अधिकारी भी अधिकारी दल से बाहर कर दिया जाता है। वोट प्राप्त करने के लिये असंभव प्रतिज्ञायें घोषित की जाती है। अतः यह प्रणाली पवित्र सिद्धान्तों एवं

लोकप्रिय जनमत के आधार पर होने पर भी घोषित हुई है। घोर दल-बन्दी सत्य पर परदा डालकर असत्य का प्रचार कर धूर्तता को प्रोत्साहन देती है।

अभी हाल तक राजनीतिक लेखक युगलदल प्रणाली का पक्ष करते आये हैं। पर सम्प्रति अधिकांश देशों में बहुदल-प्रणाली वर्तमान है। यह कहा जाता है कि युगलदल प्रणाली सरकार की नीव मजबूत करने में सहायक है। और इससे विरोधी दल का कार्य सरकार के प्रति अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण रहता है। इस बात का दावा किया जाता है कि युगल दल प्रणाली से प्रतिनिधि सरकार को प्रजा की खुशी से शासन करने का अवसर मिलता है। इस शताब्दी के कुछ प्रारम्भिक वर्षों पर इस नियम को ग्रेट ब्रिटेन में सफलता मिली, अतः यह आदर्श माना गया। यह सन्देह रहित है कि ऐसी प्रणाली में मत-दाताओं को विरोधी दल के कार्य क्रम के चुनने की सुविधा प्राप्त होती है; और चुनाव के बाद मत-दाताओं में सबल पक्ष के चुनाव सम्बन्धी वायदों के खिलाफ हरकतों को रोकने में समर्थ होती है। पर नाना झंझटों की दुनिया में सब प्रकार के राय को दो विभिन्न भाग में विभक्त करना आसान नहीं है।

आधुनिक काल में अनेक मामलों में विभिन्नता पायी जाती है। और यही कारण है कि बहुदल प्रणाली अधिकतर बढ़ गयी है। दूसरी ओर यह भी देखा गया है कि किसी देश की बहुदल प्रणाली उस देश की उन्नति को अनैक्यता के झगड़े से रोकती है। ऐसी परिस्थिति में सरकार चलाने के लिये कई दलों का सम्मिलित दल बनाना पड़ता है। ऐसे दल का मत प्रायः भिन्न विषयों पर भिन्न ही रहता है। ऐसी सरकार व्यवस्थापिका

में अपना विश्वास अचानक और शीघ्र खो बैठती है। चूंकि ऐसी सरकार विभिन्न दल के नेताओं के कुछ विषय पर एक मत होने से चलती है, अतः ऐसी परिस्थिति में उद्देश्य की एकता असंभव हो जाती है। इसके अलावा ये बातें कार्यकारिणी में प्रायः अधिक वाद-विवाद और सोच-विचार उत्पन्न कर देती हैं। फिर भी चूंकि ऐसी सरकार कम टिकाऊ होती है, अतः जनमत के परिवर्तन की ओर उसका ध्यान ज्यादा रहता है। बहुदल प्रणाली का जबर्दस्त उदाहरण फ्रांस है। और उसका दावा है कि इस प्रणाली से अनेक धार्मिक, आर्थिक, सामूहिक और वैयक्तिक दल भी उत्पन्न हो सकते हैं।

जब राजनीतिक दल अपनी कर्तव्यपूर्ति में असफल हो जाता है, जैसा कि बहुत से देशों में देखा गया है, तब एक साधारण नागरिक पर इस उत्तरदायित्व की पूर्ति का भार आ जाता है। यदि वह सच्चा और निःस्वार्थ है, बुद्धिमान है, उसमें सेवा-भावना है तथा उसमें साहस और उत्साह है तब वह अपने देश को अनेक त्रुटियों एवं संकटों से बचा सकेगा। इन्हीं भावनाओं के कारण अमरीका के महान राष्ट्रपति लिंकन ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर कहा था कि जनता राष्ट्र की अन्तिम शक्ति एवं व्यावहारिक ज्ञान की सुरक्षित निधि है।

चतुर्दश परिच्छेद

निर्वाचन

आधुनिक राष्ट्र में एक नागरिक को अनेक कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। उनमें से निर्वाचन अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने गांव, शहर या देश के कार्यों में अपना प्रभाव जमाना पड़ता है। इन विषयों का प्रबन्ध एक प्रतिनिधि संस्था, कौंसिल या कमेटी को दिया जाता है। इन्हें अपने विचार प्रकट करने का और अन्तिम निर्णय पर पहुंचने का अधिकार रहता है। ऐसी संस्था या कौंसिल जनसाधारण में से चुनी जाती है। जनसाधारण में से ऐसी संस्था के सदस्यों के अनेक उम्मेदवारों को चुनने की प्रणाली को ही निर्वाचन कहते हैं। निर्वाचन के लिये मत-प्रदान ही 'वोटिंग' है। जो इस अधिकार को कार्य में लाते हैं वही मतदाता या वोटर कहलाते हैं। मतदाताओं के सामने विभिन्न दल, जिनके उम्मेदवार चुनाव के इच्छुक हैं, अपना भावी कार्यक्रम पेश करते हैं और वे (मतदाता) उनमें से अपनी इच्छा से चुनते हैं।

राजनीति क्षेत्रों में केवल ऐसे ही व्यक्तियों का निर्वाचन नहीं होता, जिन्हें सार्वजनिक कार्यों में कोई स्थान ग्रहण करना है—जैसे व्यवस्थापिका की सदस्यता; किन्तु सरकार की कार्यवाही को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये भी ऐसा होता है। एक उम्मेदवार जो अपना चुना जाना चाहता है, मतदाताओं की सहायता चाहता है। पर सहायता

केवल उसके निजी गुण के लिये नहीं मिलती, वरन् एक ऐसे कार्य के लिये जिसे करने का या किसी विषय के एक निर्द्धारित कार्य-पथ पर चलने का वायदा करता है। इसे अपने दल या राजनीति-समूह के साथ रहना पड़ता है।

निर्वाचन-कार्य मनुष्य का कर्त्तव्य और अधिकार दोनों ही है। बालिगों के या सार्वजनिक मताधिकार के समर्थकों का कहना है कि किसी भी मनुष्य, स्त्री या पुरुष को वोट देने से नहीं रोकना चाहिये। हां, यदि वह किसी प्रकार से वोट देने योग्य न रह गया हो, तो बात दूसरी है। परन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि बहुतेरे इस अधिकार को काम में नहीं लाते। यद्यपि मत देने का अधिकार मनुष्यों को जनसाधारण के लाभ के लिये है, किन्तु बहुत से भारस्वरूप ही मानते हैं। आधुनिक राजनीतिज्ञों का कहना है कि मत देने का अधिकार प्रत्येक राजनीतिक अधिकार-प्राप्त नागरिक के लिये होना आवश्यक है। परन्तु मत देने का अधिकार अशिक्षित और स्वार्थी व्यक्तियों को, जिन्हें नागरिक कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है, आपत्ति से खाली नहीं है। किन्तु स्वतन्त्रता और समानता के जनतन्त्रात्मक अर्थ ने इन सब आपत्तियों को नष्ट कर दिया है। अधिकांश आधुनिक राष्ट्रों में मत देने का सब को अधिकार प्राप्त हो गया है।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम भारत का उदाहरण ले सकते हैं। इस विशाल देश में निर्वाचन-कार्य अधिक कठिन है; क्योंकि यहाँ के निर्वाचन-क्षेत्र कुछ तो बड़े हलके में हैं और कुछ इतस्ततः फैले हुए हैं। जनसाधारण भी अशिक्षित है। पर तोभी जनसाधारण

मत देने के अधिकार की ओर अनवरत रूप से अग्रसर हो रहा है। बालिग-मताधिकार ही नागरिकों को राजनीतिक समानता प्राप्त करने का एक जरिया है और अल्पमत प्रश्न को सुलझाने का रास्ता यही बालिग-मताधिकार यहां भी स्वीकृत हुआ है।

प्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष और परोक्ष निर्वाचन हो सकता है। प्रथम अवस्था में निर्वाचन-क्षेत्र के सब मतदाता निर्वाचन में भाग लेते हैं। परोक्ष चुनाव में मतदाताओं के समूह आपस में एक या अनेकों को अपने मत का प्रतिनिधित्व करने के लिये चुनते हैं। इससे मतदाता का अधिकार संकुचित हो जाता है। यह नियम अज्ञानी मतदाताओं के दबाव से रक्षा करता है। अतः इसका लोग पक्ष करते हैं। परन्तु अनुभव से यह देखा जाता है कि अन्य देशों में, जहां यह नियम है, इससे हानि ही अधिक हुई है; क्योंकि ऐसे मतदाताओं की संख्या कम है। अतः परोक्ष निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन से अधिक खराबी और अनधिकार पैदा करता है। इसके अतिरिक्त यदि दलबन्दी अधिक विकसित हो, तो परोक्ष निर्वाचन कम महत्त्व का है; क्योंकि मध्यवर्गीय मतदाता एक खास दल के व्यक्ति को वोट देने को चुने जाते हैं। उदाहरणार्थ अमरीका के अध्यक्ष चुनाव के सम्बन्ध में साधारण चुनाव का फल निकलते ही भविष्यवाणी कर सकते हैं। यह जानकर कि किस-किस निर्वाचन-क्षेत्र में कितने सदस्य किस दल के चुने गये हैं, यह कहना आसान हो जाता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन जनसाधारण में देश के राजनीतिक कार्यों में सम्बन्ध स्थापित करता है। परोक्ष निर्वाचन के अपनाने का एक विशेष कारण यह है कि इसके द्वारा किन्हीं खास स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने

की सहूलियत होती है तथा उच्च सभा में अनुभवी, जिन्होंने जीवन के अन्य क्षेत्रों में अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है, लिये जा सकते हैं।

आधुनिक प्रजातन्त्र में निर्वाचन को गुप्त रखा जाता है। मत पत्ती डालकर प्रकट किया जाता है। इस तरह गोपनीय मत-प्रकाशन का फल यह होता है कि किसी पर अनुचित प्रभाव नहीं डाला जा सकता। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र राज्यों में मौखिक और खुले तौर से मत देने का नियम था। यह नियम प्रतिनिधिमूलक सरकार में भी आरम्भ में कार्य में लाया गया था। मिलने खुले वोट देने के पक्ष में कहा था कि जनसाधारण के प्रति अन्य कर्त्तव्यों के सदृश मत-प्रदान भी जनता के सम्मुख ही होना चाहिये। चूंकि खुला मत-प्रकाशन हानिप्रद और भयावह है, अतः आजकल इसका परित्याग कर दिया गया है।

परदेशी, पागल, नाबालिग और जुर्मी वोट देने के अधिकार से वञ्चित हैं। पहले स्त्रियों को वोट देने से वञ्चित रखा जाता था, पर अब यह बात नहीं है। अब भारत के साथ-साथ अनेक सभ्य देशों में स्त्रियों को मताधिकार मिल गया है। कोई राष्ट्र एक खास अवस्था में ही लोगों को वोट देने का अधिकार प्रदान करता है। परन्तु कानूनन वह अवस्था बालिगी की अवस्था के बराबर है। उच्चसभा के मताधिकार के लिये आजकल कुछ देशों में बालिगी की अवस्था से अधिक अवस्थावालों को मतदाता घोषित किया गया है।

किसी-किसी देश में वोट देने के लिये विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। साक्षरता, धन और टैक्स का देना उनमें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। साक्षरता किसी दृष्टिकोण से एक अच्छी परीक्षा है। किन्तु हस्ता-

क्षर करने मात्र का ज्ञान ही किसी नागरिक के विवेकपूर्ण ज्ञान की गारण्टी नहीं है। इसलिये मिल की यह उक्ति कि सार्वभौमिक सताधिकार के पूर्व सार्वभौमिक शिक्षण की आवश्यकता है, आधुनिक विचारकों को मान्य नहीं है; क्योंकि अभिज्ञता की साधारण वृद्धि से भी मतदाता अपना कर्त्तव्य संपादन कर सकता है।

प्रतिनिधि-मूलक सरकार के प्रारम्भिक काल में साम्पत्तिक योग्यता का महत्त्व ही अधिक था। वास्तव में साम्पत्तिक योग्यता ही एक सावधान व्यवस्था की द्योतक थी। परन्तु आधुनिक काल में समस्त प्रगतिशील व्यक्तियों को मत देने का अधिकार है। यह आवश्यक नहीं कि ये प्रगतिशील व्यक्ति धनी ही हों। कर देने की योग्यता आजकल मुख्य योग्यता नहीं रह गई है। कम आय के व्यक्तियों को व्यवस्थापिका में काम करने के लिये बहुत से देशों में भत्ते या वेतन का प्रबन्ध हो गया है।

आधुनिक काल में स्वार्थों के विशेष प्रतिनिधित्व का प्रचलन नहीं है। इस व्यवस्था के अनुसार एक व्यक्ति को एक से अधिक वोट देने का अधिकार है। एक वोट तो वह नागरिक की हैसियत से देता है और दूसरा एक खास दल के सदस्य के नाते। इंगलैंड में इस प्रकार के बहु-वोट की प्रथा हाउस ऑफ कामन्स के चुनाव में केवल विश्वविद्यालयों के स्थान के लिये है।

एक अच्छी निर्वाचन-व्यवस्था में मतदाताओं को यह मालूम हो जाता है कि प्रबन्धकारिणी सरकार उनके द्वारा चुनी गई है और वे स्वराज्य का लाभ उठा रहे हैं। इसको पूरा करने के लिये मतदाताओं

और उनके प्रतिनिधियों में अनवरत सम्पर्क रहना चाहिये। महत्त्वपूर्ण विषयों पर मतदाताओं को विचार करना चाहिये और प्रतिनिधियों को व्यवस्थापिका में कोई कार्य करने के पूर्व अपने निर्वाचन-क्षेत्र का ध्यान रखना चाहिये। किसी सदस्य के मरने पर या त्याग-पत्र देने पर जो चुनाव होता है, उससे जनमत की विचारधारा का ज्ञान होता है। रेडियो और समाचार-पत्रों द्वारा समाचारों और मतों के फैलाने में अधिक सुविधा हुई है। यह साधन भी प्रतिनिधियों और बड़े निर्वाचन-क्षेत्र के बीच सम्बन्ध स्थापित रखता है।

अच्छी-निर्वाचन-व्यवस्था के लिये अल्पमत को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने पक्ष में करने का मार्ग प्रशस्त रखना चाहिए। अतः अल्पमत के प्रतिनिधित्व की सब पद्धतियों में दल-निर्माण का ध्येय नहीं होना चाहिये, परन्तु बहुमत को अपने मत में परिवर्तित करने का ही उनका ध्येय होना चाहिये।

व्यवस्थापिका और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में पृथक् निर्वाचन का अर्थ भारत में यह है कि उनमें साम्प्रदायिक दलों के व्यक्ति प्रतिनिधि हो सकें। यह पृथक् निर्वाचन जातियों को अलग कर देता था। वर्तमान संविधान में पृथक् निर्वाचन-प्रथा उठा दी गयी है, केवल अनुन्नत तथा उपजातियों के हितार्थ १० वर्ष तक कुछ विशेष व्यवस्था की गई है।

निर्वाचन-प्रणाली में कुछ मुख्य बातें हैं। एक तो मतदाता को मतदाताओं की सूची में नाम दर्ज कराना पड़ता है, जिससे उसका कोई जाली प्रतिनिधित्व न कर सके। मतदाता का इस सम्बन्ध में स्वयं ही कर्त्तव्य है। उसे अपना नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज कराने के

लिये आवेदन करना चाहिये और उसे यह देखना चाहिये कि उसका नाम उसमें दर्ज हो चुका है या नहीं। दूसरी बात यह है कि उसे चुनाव के दिन चुनाव-स्थान पर स्वयं उपस्थित होकर अपना वोट दर्ज कराना चाहिये। बाद में चुनाव-अफसर मतों की गिनती कर उसका फल घोषित करता है। नागरिक को इस सम्बन्ध में जितने भी काम हों, उनका करना उसका कर्त्तव्य है।

यह आवश्यक है कि जहां तक सम्भव हो, निर्वाचन स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। वोट सतर्कता और स्वतन्त्रता से देना चाहिये। मतदाता पर कोई कुत्सित प्रभाव नहीं डालना चाहिये और वोट भी देश की समस्त जनता के लाभ के लिये देना चाहिये। जाल और कुत्सित व्यवहारों को रोकने के लिये प्रबन्ध करना चाहिये, कारण इससे चुनाव-अधिकार की हत्या होती है। यह ठीक है कि विशुद्ध चुनाव-व्यवस्था असम्भव है, फिर भी जहाँ तक हो सके, इसे ऐसा बनाने का प्रयत्न आवश्यक है।

चुनाव-सम्बन्धी सारी बातों में स्थानीय समितियों एवं संस्थाओं के सम्बन्ध में नागरिक समस्याओं की स्पष्टता ज्यादा आवश्यक है। सुन्दर नागरिकता, जाति और समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह केवल मत प्रदान ही न करे, प्रत्युत यदि वह चुना जाय, तो अपना कुछ त्याग करके भी सर्वसाधारण की सेवा करने की योग्यता रखता हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कम सतर्क और कम उत्साही नागरिकों को उचित शिक्षा की आवश्यकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि चुनाव-व्यवस्था समुचित रूपेण हो, ताकि इस से नागरिक आदर्श की प्राप्ति हो।

नोट—भारत-संविधान में इसकी एक विशेष व्यवस्था हुई है। इसमें उचित निर्वाचन-व्यवस्था-निरीक्षण के लिये एक स्थायी स्वतन्त्र-निर्वाचन-आयोग प्रतिष्ठापित हुआ है।

पंचदश परिच्छेद

राष्ट्रवाद

राष्ट्र से मतलब उस व्यक्ति-समूह से है, जिसका निर्माण इतिहास के आधार पर हुआ है एवं जो अन्य सबसे भिन्न है। प्रसिद्ध इटालियन नेता मेज़िनी का कहना है कि राष्ट्र में लोग एक इतिहास एवं समान कानून से बंधे रहते हैं।

जातीयता शब्द का प्रयोग एक पृथक् अर्थ में होता है। जातीयता आदमियों का वह समूह है, जो जन्म, वंश, भाषा, परम्परा, इतिहास एवं समान स्वार्थ के आधार पर निर्मित है। यह बंधन राजनीतिक एकता के बंधन से सदैव भिन्न है। किसी राष्ट्र के निर्माण में ऐसी कितनी ही जातियों के लोग रहते हैं। उदाहरणार्थ मराठों को लें, वे भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैले हुए हैं। उन्हें मजे में जातीयता के रूप में ले सकते हैं। यही बात बंगालियों के विषय में कही जा सक्ती है। ऐसे ही कितने दल राष्ट्र का निर्माण करते हैं। यों तो ये सब जाति-विशेष के हैं, किन्तु जातीयता को जरा ज्यादा समझना चाहिये। इस सिलसिले में ब्रिटेन का उदाहरण ज्यादा लागू होगा। ब्रिटिश राष्ट्र में कई जातीयता का समावेश है यथा अंग्रेज, स्काच और वेल्स।

जातीयता और राष्ट्रीयता—दोनों को अलग-अलग समझना चाहिये। जातीयता अवैज्ञानिक है। यह जाति के बड़प्पन को स्वीकार करती है।

राष्ट्रीयता का सिद्धान्त अनेक जातियों के सम्मिलन से विकसित हुआ है। एक जाति के सदस्य कितने ही राष्ट्रों के अङ्ग हो सकते हैं। हां, जाति राष्ट्र के संगठन का एक अङ्ग हो सकती है। यह जातीयता के ही गलत सिद्धान्त हैं, जिनके चलते हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में यहूदियों को कष्ट उठाना पड़ रहा है।

जाति के अलावा राष्ट्रीयता के लिये एक भाषा एवं एक क्षेत्र आवश्यक है। प्रारम्भ में धर्म भी इसका एक अङ्ग माना गया था, किन्तु अब यह कुछ सम्प्रदाय में ही सीमित रह गया है। धर्म का राष्ट्रीय गुण नष्ट हो चुका है। राष्ट्रीयता के किले को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के लिये सामूहिक यातनाओं और गौरव की स्मृति, राष्ट्रीय साहित्य की प्रेरणा एवं देश-भक्ति की भावना के विकास की आवश्यकता है। इस से यह स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक राष्ट्र-निर्माण का सहायक है, हालांकि कोई भी अलग-अलग अपना उतना महत्त्व नहीं रखते। वास्तव में जन-समूह ही जब ऐसा करना चाहता है, तब राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाता है। उपर्युक्त बातें ऐसी भावनाओं के सृजन में साहाय्य होती हैं। यह राष्ट्रीयता विशुद्ध मानसिक एवं आध्यात्मिक कल्पना है।

राष्ट्रीयता कई प्रमुख बातों के अभाव में भी विकसित हुई है। भारतीय राष्ट्रीयता एक अत्यन्त विचारणीय विषय है। भाषा, धर्म और समाज की विभिन्नताओं के होते हुए भी यहाँ प्रकृति और परम्परा की इस भावना की एकांतता है। पिछले दिनों एक शासन-विधान होने के कारण उपर्युक्त भावनाओं में दृढ़ता आ रही है। सचमुच पूर्ण भारतीय राष्ट्रीयता के चिह्न स्पष्ट हो रहे हैं।

राष्ट्रीय सिद्धान्त के विकास एवं राष्ट्र-राज्य के आदर्श ने राष्ट्र के प्रधान गुणों में भौतिक परिवर्तन का विकास किया है। राष्ट्रीयता का उद्देश्य विभिन्न दलों को मिलाकर एक राष्ट्र का सृजन करना है। लोगों में राष्ट्रीयता की तीव्र भावना ही उनके सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्वार्थों की रक्षा एवं विकास के लिये है। एकता के लिये यह एक बड़ी शक्ति है।

आधुनिक राज्य यदि सच पूछो तो राष्ट्र-राज्य है। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का आधार ही एक राष्ट्र—एक राज्य की कल्पना है। प्राचीन काल में यह भावना अज्ञात-सी थी। लोगों के उद्देश्य एवं भावना की प्राप्ति के लिये राजनीतिक एकता नितान्त आवश्यकीय है। प्रेसिडेण्ट विलसन ने इस बात पर जोर दिया था कि राष्ट्रीयता के अङ्गस्वरूप प्रत्येक वास्तविक जातीयता को अपनी सरकार के निर्माण का अधिकार होना चाहिये, हालांकि जातियों के द्वारा आत्म-निश्चय के सिद्धान्त पर अधिक जोर नहीं दिया जाना चाहिये। बहुत-से छोटे और राजनीतिक दृष्टि से निर्बल राष्ट्र का निर्माण राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्ध में अनावश्यक अड़चनों का जन्म देने वाला होता है। जातियां और उनका भौगोलिक बंटवारा भी आपस में प्रायः मेल नहीं खाते, इसके अलावा सिद्धान्त के प्रयोग से जनता के आर्थिक स्वार्थों में प्रतिक्रिया भी हो सकती है। अति छोटे-छोटे राष्ट्र न तो सरकार और न जनता की ही दृढ़ता की रक्षा कर सकते हैं। महायुद्ध के बाद कितने ही राष्ट्रों के सम्बन्ध में यह बात देखी गयी है।

राष्ट्रीयता का अतिक्रमण राष्ट्रों के बीच संघर्ष और ईर्ष्या का नेतृत्व करनेवाला होता है। उसने देश-भक्ति की भावना को प्रेरित कर बड़े-

बड़े बलिदानों के सिद्धान्त का जन्म दिया है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विकृत राष्ट्रीयता का वर्णन करते हुए विश्व की सुन्दर वस्तुओं की एकान्त प्रसन्नता के लिये मांग की है। कितने ही राष्ट्र इस सिद्धान्त का केवल समर्थन ही नहीं करते, वरन् इस विश्वास को प्रोत्साहित करते हैं कि उनकी सभ्यता और संस्कृति दुनिया में सर्वश्रेष्ठ है। कितनों ही ने तो इस विचार के आधार पर साम्राज्यवादी नीति का, जिसका अर्थ दूसरे लोगों एवं जातियों के बीच उपनिवेश का फैलाव है, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार की रक्षा के लिये समर्थन करना प्रारम्भ किया है।

राष्ट्रीयता का वास्तविक आदर्श शक्ति-प्रेम एवं शोषण-भावना से बिलकुल विपरीत है। इस विषय में कोई मतभेद नहीं कि विभिन्न राष्ट्रीय दलों में कुछ गुणविशेष होते हैं, जो मानव-कल्याण के लिये अच्छी तरह विकसित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ विभिन्न जातियों के विभिन्न लोगों की विभिन्न संस्कृति और साहित्य राष्ट्रीय भावना की छाया में सभ्यता को ऐश्वर्यशाली बना सकते हैं। इसके अलावा राष्ट्रीय धन और उन्नति सामूहिक उद्देश्य और संगठित कार्य पर निर्भर है।

सच्ची राष्ट्रीयता विश्व-जातीयता के विश्वास के विपरीत हो, यह आवश्यक नहीं। इतना ही नहीं, यह तो इसकी उन्नति का प्रथम सोपान है। विभिन्नता में एकता ही विश्वबन्धुत्व एवं राष्ट्रीयता की जननी है। इसी एक आदर्श के विचार के चलते राष्ट्रीयता मानव और मानवता की एकता एवं दोनों को सम्पन्न बनाने का कारण समझी जाती है।

षष्टदश परिच्छेद

विश्वशांति-राष्ट्रसंघ

हम जानते हैं कि किस प्रकार समाज के प्रगतिशील विकास में संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता विकास का अस्त्र बनकर क्रमशः सहयोग और संगठन में परिणत हुईं। अनुभव बताता है कि समाज में उन्नति, इसकी इकाई के स्वतन्त्र रूप से कार्य करने एवं प्रत्येक के अपनी सुविधा और स्वार्थ के अनुसार कार्यपथ-निर्माण करने से जिस नीति का प्रभाव समाज पर सामूहिक रूप से पड़ता है, नहीं आती है। युद्ध की दर्दनाक वारदातों एवं इसके मानव-जाति पर घातक प्रभाव ने राजनीतिज्ञों एवं विचारकों को राष्ट्रों की विभिन्नताओं को अधिकाधिक शांतिपूर्ण उपायों से निबटाने के लिए बाध्य किया है।

इनमें से एक सर्वप्रसिद्ध कर्तृत्व विश्वविश्रुत जर्मन दार्शनिक इमानुवेल कांट का है। अपने प्रसिद्ध लेख स्थायी शान्ति-व्यवस्थापिका (१७४८) में उन्होंने लिखा है—"प्रत्येक राष्ट्र अपनी रक्षा के लिए यह अपेक्षा कर सकता है और उसे करना चाहिए कि उसके पड़ोसी अपने को उन शर्तों के आगे, जो किसी भी सभ्य समाज के लिये, जिसमें प्रत्येक का अधिकार सुरक्षित है, मस्तक नत करें।" यह राष्ट्रसंघ का, जो किसी भी हालत में जातियों का राष्ट्र नहीं है, जन्म देनेवाला नहीं होगा। कांटने इस बात पर जोर दिया है कि शांति जहां एक ओर प्रत्येक देश में जनतंत्रात्मक

संस्थाओं के निर्माण पर निर्भर करती है, वहां दूसरी ओर विश्वनागरिकता के विकास के स्वतन्त्र राष्ट्रों के संघ पर, जो नियमानुसार तथा विभिन्न राष्ट्रों के सम्बन्ध से सन्निहित हैं, निर्भर है। उन्होंने बहुत पहले ही यह देख लिया था कि ज्योंही लोगों को यह मालूम हो जायगा कि युद्ध आर्थिक रूप से वाणिज्य, व्यापार और व्यवसाय के लिए अनुपयुक्त और घातक है, वे उसका परित्याग करने के लिए जोरदार प्रयत्न करने लग जायेंगे।

विश्व-सहयोग की संगठित प्रणाली का विकास राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की जनतंत्रात्मक सरकार के सिद्धान्त की प्रगति में लागू होता है। १९१४ ई० के पूर्व ही करीब ४० अंतर्राज्य-संगठन में समाज-सेवा एवं विशेष स्वार्थ-साधन के लिये, यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन, इण्टर नेशनल सूगर कमीशन एवं इण्टर नेशनल मेट्रिक परिमाण यूनियन जैसी संस्थाएँ थीं। संधियों, कांग्रेसों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों से राष्ट्रों के बीच युद्ध तथा शांतिकाल में राष्ट्रसंचालन-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का बड़ा प्रसिद्ध विकास हुआ है।

१९१४-१८ के विश्व-युद्ध के दर्दनाक प्रभाव ने राजनीतिज्ञों एवं शांति के पुजारियों को शांतिमय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उन्नति के हेतु स्थायी संगठन के लिये बाध्य होना पड़ा।

'राष्ट्रसंघ' की स्थापना से सदस्य-राष्ट्रों ने कुछ बातों में अपनी कार्य-स्वतन्त्रता को सीमित करने की स्वीकृति दी; ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं राष्ट्रीय शांति और रक्षा की प्राप्ति हो। इन सिद्धान्तों की स्वीकृति, सचमुच जैसा लार्ड सेसिल ने कहा है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विकास में, जो कि शताब्दियों से होता आ रहा है, एक कदम आगे है।

जब कि संघ १९२० के नवम्बर में जेनेवा (स्विटजरलैंड) में बैठा, इसके ४२ सदस्य थे। आज इसके सदस्यों की संख्या में पृथ्वी की जनसंख्या का तीन चतुर्थांश सम्मिलित हो गया। संयुक्तराष्ट्र इसका कभी सदस्य नहीं रहना चाहा। क्रमशः इसकी राजनीतिक क्षेत्र में कार्य-कारिता शिथिल होती गई। १९३९ के द्वितीय विश्वव्यापी महासमर के साथ-साथ लीग आप से आप मर गई।

संयुक्तराष्ट्र

२

मनुष्यमात्र की अधिकांश संख्या ने अपने ५० राष्ट्रों के १,७०,००००,०००, निवासियों के प्रतिनिधियों द्वारा २६ जून १९४५ को यह निश्चय किया कि अपनी शक्ति को संगठित करके एक नई संसार-व्यापी संस्था बनायी जाय। उस दिन सानफ्रांसिस्को में उन्होंने चार्टर पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार संयुक्तराष्ट्र (यूनाइटेड नेशन्स) का कार्य-सञ्चालन होता है।

कुछ सप्ताह बाद पोलैण्ड ने भी चार्टर पर हस्ताक्षर कर दिये और १९४६ में ४ और १९४७ में २ नये सदस्य सम्मिलित किये गये। अब संयुक्तराष्ट्र की सदस्य-संख्या ५७ हो गयी है।

संयुक्तराष्ट्र के उद्देश्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, जनता के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के आधार पर राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना, शान्ति-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य उपाय करना; अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक

और मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से मानव-अधिकारों तथा जाति, भाषा, धर्म अथवा स्त्री-पुरुष के भेदभाव से रहित सब के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान उत्पन्न करना। और इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु राष्ट्रों के कार्य में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए एक केन्द्र-रूप कार्य करना।

संयुक्तराष्ट्र की नींव इन सिद्धान्तों पर रखी गयी है—

सब राष्ट्र-सदस्य सार्वभौम-शक्ति-सम्पन्न और समान हैं।

सब राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों का सद्भावना से पालन करने के लिये वचन-बद्ध हैं।

सब राष्ट्र अपने झगड़ों का शान्तिमय तरीके से इस प्रकार फैसला करने के लिए वचन-बद्ध हैं, जिससे किसी प्रकार शान्ति, सुरक्षा और न्याय के भङ्ग होने का भय न हो।

अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में कोई राष्ट्र-सदस्य किसी प्रदेश या किसी देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध न शक्ति का प्रयोग करेगा और न उसको धमकी देगा और न ऐसा आचरण करेगा, जो संयुक्तराष्ट्र के उद्देश्यों से विपरीत होगा।

जब चार्टर के अनुसार संयुक्तराष्ट्र कोई कार्रवाई करेगा, तब सब राष्ट्र-सदस्य उसे सब प्रकार की सहायता देने के लिये वचन-बद्ध हैं। और वे किसी ऐसे देश को सहायता नहीं देंगे, जिसके विरुद्ध संयुक्तराष्ट्र शान्ति और सुरक्षा के लिये कोई कार्रवाई कर रहा हो।

शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये जहाँ तक आवश्यक होगा, यह संस्था व्यवस्था करेगी कि जो देश सदस्य नहीं हैं, वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करेंगे।

शान्ति-रक्षा के लिये जब तक आवश्यक न होगा, संयुक्तराष्ट्र उन मामलों में हस्ताक्षेप नहीं करेगा, जो किसी देश के आन्तरिक कार्यक्षेत्र में आते हैं।

संयुक्तराष्ट्र के सदस्य सभी शान्तिप्रिय देश हो सकते हैं, जो चार्टर द्वारा निर्धारित कर्तव्यों को स्वीकार करते हैं और जिनको यह संस्था इन कर्तव्यों के पालन करने के उपयुक्त समझती है।

संयुक्तराष्ट्र का कार्य क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के सारे क्षेत्र के समान विस्तृत है, इसलिये इसकी व्यवस्था विभिन्न विभागों के रूप में है। चार्टर ने संयुक्तराष्ट्र के छः प्रमुख विभाग बनाये हैं—

साधारण सभा, (जनरल असेम्बली)

सुरक्षा परिषद्, (सिक्यूरिटी कौंसिल)

आर्थिक और सामाजिक परिषद्, (सोशल एण्ड इकनॉमिक कौंसिल)

संरक्षण-परिषद्, (ट्रस्टीशिप कौंसिल)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, (इण्टरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस)

सचिवालय, (सेक्रेटेरियट)

संयुक्तराष्ट्र का प्रमुख विचारणीय विभाग यह साधारण सभा है। अब तक बनायी गयी संस्थाओं में से यह संस्था मानव-पार्लियामेण्ट (पार्लियामेण्ट ऑफ मैन) के समान है। इसका अधिवेशन साल में एक बार होता है और चार्टर के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत सभी विषयों पर विचार करने का इसको अधिकार है। संयुक्तराष्ट्र के दूसरे विभागों के अधिकार और कर्तव्य के सम्बन्ध में भी विचार करने का इसे अधिकार है।

साधारण सभा में राष्ट्र-सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार है, यद्यपि वह साधारण सभा के अधिवेशनों में ५ प्रतिनिधि तक भेज सकता है।

सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन विषय या विवाद पर साधारण सभा बहस तो कर सकती है, परन्तु अपना मत उस समय तक नहीं प्रकट कर सकती, जब तक कि उसकी माँग परिषद् न करे।

दूसरे विभागों के कार्यों और कर्तव्यों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण साधारण सभा का संयुक्तराष्ट्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुरक्षापरिषद् सहित संयुक्तराष्ट्र के सभी विभाग अपनी वार्षिक और विशेष रिपोर्ट साधारण सभा को देते हैं। सभा इन रिपोर्टों पर विचार करती है। सुरक्षापरिषद् के ६ अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों और संरक्षण परिषद् के आवश्यक सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा करती है।

सुरक्षापरिषद् और साधारण सभा अलग-अलग मत निर्णय करके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती है। सुरक्षापरिषद् की सिफारिश पर सभा नये सदस्यों को ग्रहण करती है और प्रधान सचिव (जनरल सेक्रेटरी) को नियुक्त करती है, जो सचिवालय (सेक्रेटेरियट) का प्रबन्ध करता है।

सुरक्षापरिषद् के ११ सदस्यों में से ५ स्थायी सदस्य हैं और ६ साधारण सभा द्वारा निर्वाचित होते हैं। इसमें भारत भी १६४० में सदस्य निर्वाचित हुआ है। सदस्य राष्ट्रों ने शान्ति और सुरक्षा-व्यवस्था का कार्यभार इस परिषद् पर डाला है।

पाँच स्थायी सदस्य ये हैं—चीन, फ्रांस, रूस, यूनाइटेड किंगडम और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका। अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिये साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं।

सुरक्षापरिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। कार्यक्रम-सबन्धी विषयों का निर्णय ११ सदस्यों में से ७ सदस्यों के बहुमत से हो सकता है। मूल विषयों के सम्बन्ध में भी निर्णय के लिए ७ मतों की ही आवश्यकता होती हैं, लेकिन इनमें से ५ स्थायी सदस्यों की सहमति जरूरी है। यह महान शक्ति की एकता का सिद्धान्त है, जिसे आम तौर पर निर्णायक मत (वीटो) कहा जाता है। जब परिषद् किसी विवाद में शान्तिपूर्वक समझौते की कोशिश करती है, तब कोई सम्बन्धित देश इसमें वोट नहीं दे सकता।

शान्ति-व्यवस्था के लिये लगातार सावधानी जरूरी है और इस सिलसिले में सुरक्षा-परिषद् को कभी तुरन्त ही कोई निर्णय लेना पड़े, इसलिए इसका अधिवेशन स्थायी होता है और इसकी बैठक पखवाड़े में कम से कम एक बार अवश्य होती है।

सुरक्षा-परिषद् की माँग पर और विशेष समझौतों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के लिये सैन्यबल तथा अन्य आवश्यक सुविधाएँ देने के लिये चार्टर द्वारा वचनबद्ध हैं।

सुरक्षा-परिषद् के आधीन एक सैन्यदल-समिति (मिलिटरी स्टाफ कमेटी) है, जिसमें पाँचों स्थायी सदस्यों के चीफ ऑफ स्टाफ या उनके प्रतिनिधि रहते हैं।

साधारण सभा ने जनवरी १६४६ में अणु-शक्ति समिति (एटामिक एनर्जी कमीशन) स्थापित की थी, जो सुरक्षा-परिषद् के निर्देशों के अनुसार कार्य करती है।

फरवरी १६४७ में सुरक्षा-परिषद् ने शस्त्रीकरण (कन्वेन्शनल आर्मामेंट) के सम्बन्ध में भी एक कमीशन की स्थापना की थी।

साधारण सभा के अधीन आर्थिक और सामाजिक परिषद् है। इसका उद्देश्य संसार को अधिक समृद्धिशाली, स्थायी और न्यायपरायण बनाना है। यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ, समाज, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा इनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों तथा मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रता का अध्ययन करती है और इन पर अपनी रिपोर्ट और सिफारिशें प्रस्तुत करती है। साधारण-सभा के लिये यह परिषद् इन विषयों के सम्बन्ध में नियमों के मसविदे तैयार करती है। जब आवश्यकता होती है, यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को भी बुलाती है। आवश्यकतानुसार सुरक्षा-परिषद् को यह सूचना तथा सहायता भी देती है। साधारण सभा की अनुमति से यह अपने अधिकार-क्षेत्र में सदस्य-राष्ट्रों के लिये सेवा-कार्य की व्यवस्था भी करती है।

संयुक्त-राष्ट्र की स्थापना से पूर्व विशेष समस्या-सम्बन्धी कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कार्य कर रही थीं। इनमें से कुछ तो कितने सालों से काम कर रही हैं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ, जिसकी स्थापना १६१६ में की गई थी और दूसरी संयुक्त-राष्ट्रीय खाद्य और कृषि-संस्था, जिसकी स्थापना द्वितीय महायुद्ध के बाद हुई थी। आर्थिक और सामाजिक परिषद् का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि इन विशेष संस्थाओं का

सम्बन्ध संयुक्त-राष्ट्र से बाकायदा स्थापित किया जाय और इनके कार्यों में समीकरण उत्पन्न किया जाय।

जो देश अभी तक स्वाधीन नहीं हुए थे, उनके सम्बन्ध में चार्टर की एक महत्त्वपूर्ण धारा के अनुसार दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की घोषणा की गयी है। इनमें कहा गया है कि इन प्रदेशों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं। जो सदस्य-राष्ट्र इन देशों का शासन-प्रबन्ध करते हैं, वे इन प्रदेशों के सम्बन्ध में कुछ विशेष कर्तव्य स्वीकार करते हैं। ये कर्तव्य हैं—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण-प्रगति के लिये व्यवस्था करना, दुराचारिता को दूर करना, अच्छा व्यवहार करना, स्वायत्त शासन का विकास करना, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति को सुदृढ़ बनाना और क्रियात्मक कार्यों को प्रोत्साहन देना।

संरक्षण-परिषद् उन रिपोर्टों पर विचार करती है, जो शासन-प्रबन्ध करनेवाले राष्ट्र प्रस्तुत करते हैं। यह परिषद् संरक्षित प्रदेशों-सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों पर विचार करती है, और समय-समय पर इन प्रदेशों के निरीक्षण के लिये व्यवस्था भी करती है तथा संरक्षण-समझौते के अनुसार अन्य कार्य भी करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्तराष्ट्र का प्रधान न्यायालय है, जिसका कार्यस्थान हालैण्ड-स्थित हेग नगर में है। न्यायालय के १५ न्यायाधीश सुरक्षा-परिषद् के और साधारण-सभा द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से निर्वाचित किये जाते हैं।

चार्टर और प्रचलित संधियों के अनुसार तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं ने जिन विषयों की व्यवस्था की है, उनके सम्बन्ध में भी मुकदमे इस न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं।

संयुक्तराष्ट्र का विशाल प्रबन्ध-कार्य सचिवालय द्वारा दिन प्रतिदिन सञ्चारित होता है, इसका काम दूसरे विभागों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्यक्रम की व्यवस्था करना है। सचिवालय का प्रमुख कर्मचारी प्रधान सचिव (जनरल सेक्रेटरी) है, जिसे सुरक्षापरिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा नियुक्त करती है।

फरवरी १९४६ में नार्वे के तात्कालिक वैदेशिक मन्त्री, त्रिग्वीली को प्रधान सचिव की पदवी पर पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। इसके एक भाग के भारप्राप्त—सहकारी सचिव—एक भारतीय है।

सचिवालय का कार्य आठ विभागों में विभक्त है।

सोवियट शासन-प्रबन्ध

बोल्शेविकों की यह धारणा है कि वे लोग सत्रह करोड़ लोगों के लिए जो-कुछ कर रहे हैं वह समाचार पत्रों तथा पुस्तकों में रुचि देने, थियेटरों तथा ओपेराओं के प्रति प्रेम बढ़ाने, स्वास्थ्योन्नति करने तथा धनोत्पादन बढ़ाने से कहीं अधिक है। वे जो-कुछ संसार को देने चले हैं, वह एक नव सभ्यता से जरा भी कम नहीं है। इन पंक्तियों में हमें देखना है कि यह सोवियट कम्युनिज्म किन-किन बातों में आधुनिक पाश्चात्य-जगत की सभ्यता से विशेषता तथा विभिन्नता रखता है।

इसका सबसे पहला महत्त्वपूर्ण फल है—पाश्चात्य जगत के सामाजिक संगठन के प्रेरक मुनाफे के विचार का पूर्ण बहिष्कार। जो उत्पादन को खरीदकर अधिक दामों में विक्री करते, सोवियट कम्युनिज्म ऐसों को जुर्मी समझता तथा सजा देता है।

इसने पूँजीपतियों की मुनाफा करने की भावना का परित्याग किया है तथा उत्पादन के क्षेत्र में सामूहिक स्वामित्व को आवश्यक समझा है।

योग्यता तथा क्षमता के अनुसार सामाजिक लाभप्रद कार्यों में दत्त-चित्त होना सार्वभौमिक कर्तव्य है। जो धनी हैं, जमींदार हैं, बड़े-बड़े पदों पर हैं, किंवा विद्वान हैं, कलाकार हैं, विशेष योग्यतावान हैं, प्रतिभा-शाली हैं या लोकप्रिय हैं, वे भी उक्त कर्तव्य से बरी नहीं हैं।

ये कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके चलते सोवियटरूस का संगठन अन्य

देशों से भिन्न हो गया है और इसके अलावा ये ही ऐसी बातें हैं, जिनके अभाव में प्रजातन्त्र अराजकतन्त्र के सिवा और कुछ नहीं रह जाता।

इसके अलावा कम्युनिस्ट दल की देख-रेख सोवियट यूनियन में जनमत अन्य देशों की तुलना में एक भिन्न अस्तित्व रखता है। यहाँ का लोकमत अधिकाधिक परिमाण में परिश्रम-रक्षा के वैज्ञानिक साधनों, धनोत्पादक मशीनों तथा आविष्कारों का पूर्ण समर्थक है।

ये कुछ ऐसे गुण और सिद्धान्त हैं, जिनके अनवरत व्यावहारिक रूप ने यहाँ सुखी जीवन का जन्म दिया है। —सोवियट कम्युनिज्म से।

रूस का नवीन विधान (१९३६)—रूसका पहला विधान १९१८ में तैयार हुआ था। उसका उद्देश्य था—उत्पादन-क्षेत्र में वैयक्तिक सम्पत्ति-प्रणाली का नाश एवं मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का विरोध। तबसे कृषि के समूहीकरण के फलस्वरूप ९० प्रतिशत किसान सोशलिस्ट टेक्टर की छाया में आ गये हैं। इसके चलते आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में क्रान्ति हो गयी है। शिक्षा का प्रचार जोरों पर हुआ है। नवीन विधान का निर्माण ही इन परिवर्तनों से सोवियट समाज को ओत-प्रोत कर देता है।

विधान की पहली बातें हैं—

सोवियट सोशलिस्ट रिपब्लिक का यूनियन मजदूरों तथा किसानों का सोशलिस्ट राष्ट्र है। भूमि, जंगल, खान, फैक्टरी, और नगर के कितने ही क्षेत्र, बैंक तथा आवागमन के साधन सोशलिस्ट राष्ट्र के हैं अर्थात् सर्व साधारण की सम्पत्ति है। इसके सिवा सोशलिस्ट सम्पत्ति है सामूहिक

फार्म। ये फार्म उस भूमि पर हैं, जो राष्ट्र से सदा के लिए दी गयी है। राष्ट्र नागरिकों की निम्नलिखित वैयक्तिक सम्पत्ति की कानूनन रक्षा के लिये बाध्य है—

आमदनी और बचत, रहने का स्थान, घर की वस्तुएँ तथा बासन-वर्तन एवं वैयक्तिक व्यवहार तथा आराम की सामग्री।

बचे हुए १० प्रतिशत किसानों तथा मजदूरों का, जो को-ओपरेटिव में शामिल नहीं है, अस्तित्व यह ध्यान में रखते हुए कि उनका और उनसे शोषण नहीं हो, कानूनन एतदर्थ सुरक्षित हो, इस समूह को पूर्ण नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार दिया गया है।

नवीन विधान के अनुसार सोवियट रूस में तमाम जातियों को पूर्ण समानता का अधिकार दिया गया है। इसके सिवा प्रत्येक यूनियन रिपब्लिक को यू-एस-एस-आर से पृथक् होने की स्वतन्त्रता है। ऐसे यूनियन की संख्या ७ से बढ़कर ११ हो गयी है। इससे पता चलता है कि किस प्रकार आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास हो रहा है।

नयी प्रणाली के अनुसार बड़े-छोटे तमाम क्षेत्रों में प्रत्यक्ष निर्वाचन का विधान है। प्रतिनिधियों का चुनाव जनता के बहुमत पर है। राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति सुप्रीम कौन्सिल है। यह दो सभाओं में विभक्त है—कौंसिल आफ दी यूनियन एवं कौंसिल आफ नेशनैलिटीज। इन दोनों को अधिकार समान है तथा इसका कार्य चार वर्षों के लिये है। इन दो सभाओं की आवश्यकता इसलिए हुई कि पहली सभा के सामने राष्ट्र के सामूहिक जनसमूह का प्रश्न है तथा दूसरी के समक्ष विभिन्न जाति की विभिन्न समस्यायें आती हैं।

चुनाव के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है, गांवों तथा नगरों के चुनाव की असमानता का परित्याग। इसके सिवा चुनाव-प्रथा में एक और परिवर्तन यह हुआ है कि समूहों को जहां प्रत्यक्षमत प्रदान का ही अधिकार था, उन्हें गुप्त मत प्रकाशन का अधिकार दिया गया है। इस विधान के अनुसार १८ वर्ष की अवस्था पर पहुंचनेवाले समस्त व्यक्तियों को—जुर्मी और पागल को छोड़कर, मत-प्रदान का अधिकार है। विधान के अधिकारियों का ख्याल है कि नौकरशाही तथा अन्य सरकारी दोषों से मुक्ति के लिए गुप्त मत-प्रकाशन-प्रथा बड़ा ही उत्तम साधन है।

विधान में यू-एस-एस-आर की दोनों सभाओं के दो-तिहाई मत से संशोधन हो सकेगा—इस विधान में ऐसी भी व्यवस्था है।

—करेण्ट हिस्ट्री में शिपमेन का लेख

राजनीतिज्ञों का परिचय

अरस्तू—(३८४ ई० पू०-३२२ ई० पू०) यह सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सिकन्दर महान का गुरु था। हालांकि यह प्लेटो का शिष्य था, किन्तु इसने प्लेटो के समाजवादी विचारों की तीव्र आलोचना की है। यह तर्कशास्त्र और राजनीति-विज्ञान का पण्डित था। यही पहला विद्वान था, जिसने राजनीतिको धर्मनीति से पृथक् किया।

इमर्सन—(१८०३ ई०-१८८२ ई०) यह अमरीका का कवि और गद्य लेखक था। अपने चारित्रिक तथा राजनीतिक विचारों के लिये इसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। यह लण्डन में राजनीति का प्रोफेसर था।

कांट—(१७२४ ई०-१८०४ ई०) यह ५० वर्षों तक लगातार दर्शन का बड़ा विख्यात प्रोफेसर रहा। यह कितने हो वर्तमान दार्शनिक सिद्धान्तों का, जिनमें मार्क्स का सोशलिस्ट सिद्धान्त भी है, प्रतिष्ठाता माना जाता है।

कार्लाइल—(१७९५ ई०-१८८१ ई०) अंग्रेजी साहित्य का महापण्डित तथा अंग्रेजी गद्य का धुरन्धर लेखक कार्लाइल 'फ्रांस की राज्य क्रान्ति' तथा 'वीर तथा वीर पूजा' नामक पुस्तकों का प्रणयन कर अमर हो गया है।

केटो—(४थी सदी)—अपने युग का यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध लेखक था। इसके लैटिन लेखों की बड़ी धूम थी।

गेटे—(१७४९ ई०-१८३२ ई०)—यह जर्मनी का अतिप्रसिद्ध कवि

और दार्शनिक था। 'फौस्ट' नामक काव्य ग्रन्थ इसकी अमर कृति है।

ग्लेड्सटन—(१८०६ ई०-१८६८ ई०)—यह इङ्गलैण्ड का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और वाग्मी था। यह १८३२ ई० में पार्लियामेण्ट का सदस्य बना तथा १८६४ ई० में आंख की पीड़ा से लाचार हो उस पद से अलग हुआ। वह समस्त लिबरल लीडरों में योग्य और प्रभावशाली था। आयरलैण्ड के मुक्ति आन्दोलन तथा वोट देने के अधिकार के समर्थन के कारण इसकी बड़ी ख्याति हुई।

जैफरसन—(१७४३ ई०-१८०६ ई०)—यह संयुक्त राष्ट्र अमरीका का तृतीय प्रेसीडेण्ट था। अमरीका की स्वातन्त्र्य-घोषणा का विधाता यही समझा जाता है।

डायसी—इङ्गलैण्ड के वैधानिक कानून का यह बड़ा भारी ज्ञाता था। इसकी पुस्तकों तथा आक्सफोर्ड में दिये भाषणों से बीसवीं सदी के वैधानिक अध्ययन का पहलू ही बदल गया।

पेन—(१७३७ ई०-१८०६ ई०)—टामस पेन गम्भीर विचारों का एक प्रसिद्ध नेता माना जाता है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से इसका निकटतम सम्बन्ध था। 'मानव अधिकार' का प्रतिष्ठाता यही कहा जाता है।

प्लेटो—(४२७ ई० पू०-३४७ ई० पू०)—यह प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात का शिष्य था। इसका रिपब्लिक नामक ग्रंथ विश्व-विख्यात है। इतिहास में यही प्रथम कम्यूनिस्ट कहा जाता है।

बर्क—(१७२६ ई०-१७६७ ई०) इसका नाम इङ्गलैण्ड के सर्व श्रेष्ठ वाग्मियों तथा राजनीति-विचारकों में आता है। वारेन हेस्टिंग्स के मुकदमे तथा अमरीका के प्रश्नों को लेकर उसे बड़ी ख्याति मिली थी।

ब्लंटस्ली—(१८०८ ई०-१८८१) जर्मनी में यह कानून शास्त्र का बड़ा नामी प्रोफेसर था। इसकी कृति 'राष्ट्र का सिद्धान्त' की संसार भर में प्रसिद्धि है।

वाइस जेम्स—(१८३८ ई०-१९२२ ई०) यह आयरलैण्ड का निवासी था। इसकी शिक्षा-दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी। यह संयुक्त राष्ट्र अमरीका का राजदूत था। 'आधुनिक प्रजातंत्र' तथा 'अमरीका का विधान' इसकी दो प्रसिद्ध रचनायें हैं। १९१४ ई० में यह लार्ड सभा का सदस्य बनाया गया। यह कुछ दिनों तक कैबिनेट में भी था।

बेंथम—(१७४८ ई०-१८४३ ई०) यह कानून और दर्शन का बड़ा पंडित माना जाता है। कहा जाता है कि यह मिल तथा इङ्गलैण्ड के अन्य कितने ही व्यक्तिवादियों के गुरु के समान था।

मार्क्स—(१८१३ ई०-१८८३ ई०) यह जर्मनी का निर्वासित यहूदी था। इसने सारी जिन्दगी लण्डन में बितायी। वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजतंत्र का प्रतिष्ठाता समझा जाता है। इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कैपिटल' (दो भागों में) आधुनिक समाजवादियों की बाइबिल है।

मेकाले—(१८०० ई०-१८५९ ई०) लार्ड मेकाले अंग्रेजी साहित्य का एक प्रसिद्ध लेखक होने के साथ-साथ एक महान् इतिहासज्ञ था। भारत के गवर्नर जनरल के ऑफिसका यही पहला कानून का सदस्य था।

मेजिनी—(१८०५ ई०-१८७२ ई०) यह यंग इटली एसोशियेसन का जन्मदाता था। इटली को एक राष्ट्र बनाने तथा वहां के जागरण का यह अग्रदूत भी था।

रूजवेल्ट—(१८५८ ई०-१९१९ ई०) रूजवेल्ट थ्योडोर अमरीका

का प्रेसिडेंट हो गया है। यह अपनी यात्रा के कारण प्रसिद्ध है। यह 'ट्रस्ट' और 'मोनोपली' का घोर विरोधी था। इसके अलावा सिविल सर्विस में इसने इमानदारी पर बड़ा जोर दिया था।

रूसो—(१७१२ ई०-१७७८ ई०) यह सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के प्रेरकों में कहा जाता है। यह अपनी अन्य कृतियों के सिवा अपनी सोशल कण्ट्राक्ट थ्योरी के लिए विश्व प्रसिद्ध हो गया है।

लावेल—(१८५६ ई०) यह अमरीका हरवार्ड विश्वविद्यालय का अध्यक्ष था। यह बहुत दिनों राजनीति-शास्त्र का बड़ा प्रसिद्ध प्रोफेसर रहा। इङ्गलैण्ड की सरकार के सम्बन्ध में इसकी लिखी पुस्तक (दो भागों में) बड़ी ख्याति पा चुकी है।

लिंकन—(१८०९ ई०-१८६५) जिस समय अमरीका में उत्तर तथा दक्षिण के लोगों के बीच दास-प्रथा को लेकर गृह-युद्ध चल रहा था, यह संयुक्त राष्ट्र का प्रेसिडेण्ट था। चूंकि वह दास प्रथा का विरोधी था, अतः उसे गोली मार दी गयी। वह अपने विभिन्न गुणों के कारण राष्ट्र का आदर्श हो गया है।

लौक—(१६३२ ई०-१७०४ ई०) यह १७८८ ई० के इङ्गलैण्ड के क्रांति-युग में उदार नीति का प्रतीक था। यह कर्मठ व्यावहारिक एवं लगनशील राजनीतिज्ञ था। इसके अलावा शिक्षा तथा धर्म में इसकी बड़ी दिलचस्पी थी।

वाशिंगटन—(१७३२ ई०-१७९० ई०) जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राष्ट्र अमरीका का पहला प्रेसिडेण्ट था। हालांकि आरंभ में यह युद्धविरोधी था किन्तु अन्त में बाध्य होकर उसे लड़ाई में भाग लेना

पड़ा। वह क्रांतिवादी अमरीकनों का कमाण्डर-इन-चीफ बना। वैदेशिक राजनीति में अमरीका अपने को पृथक रखे—इस नीति का प्रतिष्ठाता यही था।

विलसन—(१८५६ ई०-१९२४ ई०) वुड्रो विलसन पहले एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा राजनीति शास्त्र का प्रोफेसर था। बाद में वह संयुक्त राष्ट्र अमरीका का प्रेसिडेण्ट बना। इसने नसाखोरी बन्द की तथा स्त्रियों को मताधिकार दिया। महायुद्ध के बाद जो शांति-सभा बैठी, उसकी १४ शर्तों का यही लेखक था।

स्टुअार्ट मिल—(१८०६ ई०-१८७२ ई०) जान स्टुआर्ट मिल इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रवेत्ताओं तथा दार्शनिकों में हो गया है। यह व्यक्तिवाद का महान प्रतिष्ठाता माना जाता है। इसका प्रतिपादन अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक में किया है; यह नारी-अधिकार का प्रबल समर्थक था।

सीले—(१८३४ ई०-१८९५ ई०) सर जान सीले कैम्ब्रिज में आधुनिक इतिहास का प्रोफेसर था।

हिल्ग्रीन—(१८३६ ई०-१८८२ ई०) टामस हिल्ग्रीन आक्स-फोर्ड का प्रोफेसर था। यह राष्ट्रीय दायित्व का मूल मन्त्र नामक पुस्तक लिखकर अमर हो गया है।

हौब्स—(१५८८ ई०-१६९९ ई०) यह एक महान अंग्रेज दार्शनिक था।

हौम्स—(१८०९ ई०-१८९४ ई०) यह था तो अमेरिका का डाक्टर, किन्तु इसने नाम कमाया निबन्ध, कविता और उपन्यास लिख कर।

राजनीतिक शब्दावली

Absolute	अनियंत्रित
Absolute monarchy	अनियंत्रित राजसत्ता
Administration	शासन-प्रबन्ध
Airforce	वायुसेना
Alien	विदेशी
An archism	अराजकतावाद
Anouncement	विज्ञप्ति, घोषणा
Aristrocracy	कुलीन तन्त्र
Autocracy	निरंकुश तन्त्र
Ban	प्रतिबन्ध
Benebolent Dispot	हितैषी स्वेच्छाचारी
Bi cameral	द्विसभामूलक
Brotherhood	भ्रातृत्व
Bureocracy	नौकरशाही
Bye-Election	उपनिर्वाचन
Bye-Law	उपनियम
Cabinet	मंत्रिमंडल
Candidate	उम्मीदवार
Capitalism	पूँजीवाद
Citizen	नागरिक

राजनीतिक शब्दावली

Citizenship	नागरिकता
Classification	वर्गीकरण
Clique	गुट
Collussion	गुटबन्दी
Collectivism	समूहवाद
Colony	उपनिवेश
Common Wealth	जनपद
Communist	समष्टिवादी, वर्गवादी
Competition	प्रतियोगिता
Compromise	समझौता
Compulsory	अनिवार्य
Conservatism	अनुदारपन
Constituency	निर्वाचन क्षेत्र
Constitution	विधान
Contemporary	समकालीन
Convassing	पक्ष प्रचार, कन्वेसिङ्ग
Corrupt-Practices	घूसखोरी
Corruption	पतन, अनैतिकता
Cosmopolitan	विश्वनागरिक
Crown	राजा
Customs	आयात-निर्यात कर
Debate	बहस
Declaration	घोषणा

Delegate	प्रतिनिधि
Demagogue	उपनेता (स्वार्थी नेता)
Democracy	प्रजातन्त्र
Demonstration	प्रदर्शन
Despot	स्वेच्छाचारी शासक
Diplomacy	कूटनीति
Direct	प्रत्यक्ष
Doctrine	सिद्धान्त
Dominion	आधिपत्य राज्य
Economics	अर्थ शास्त्र
Elastic Constitution	लचीला विधान
Election	निर्वाचन
Elementary	प्रारम्भिक
Emancipation	मुक्ति
Equality	समानता
Era	युग
Ethics	नीति-शास्त्र
Evolution	विकास
Extremists	उग्रपथी
Federal	संघात्मक
Federation	संघ
Fuedal System	सामन्त शाही
Flexible Constitution	लचीली शासन पद्धति

Frame	रूप-रेखा
Franchise	मताधिकार
Free	स्वतन्त्र
Fundamental	बुनियादी
Government	सरकार
Grade	दर्जा
Homage	अभिवादन
Honorary	अवैतनिक
Humanitarianism	मनुष्यत्ववाद
Ideal	आदर्श
Illegal	नियम-विरुद्ध
Imperialism	साम्राज्यवाद
Independence	स्वाधीनता
Indirect	अप्रत्यक्ष, परोक्ष
International	अन्तर्राष्ट्रीय
Introductory	प्रारम्भिक
Item	रकम, मद
Joint	संयुक्त
Journalism	पत्रकारकला
Judiciary	न्यायालय सम्बन्धी, न्यायपालिका
Jurisprudence	कानून विज्ञान
King	राजा
Kingdom	राज्य

Laissez faire	'जो चाहो करो' की नीति
League	संघ
Legislature	व्यवस्थापक मण्डल, विधानमण्डल
Liberty	स्वतन्त्रता
Loyal	राजभक्त
Majority	बहुमत
Memorandum	याददाश्त, संक्षिप्त विवरण
Minority	अल्पमत
Misrule	कुशासन
Mob	जनता की अव्यवस्थित भीड़
Monarchy	राजतन्त्र
Movement	आन्दोलन
Nation	राष्ट्र
National	राष्ट्रीय
Nationalism	राष्ट्रवाद
Nationality	राष्ट्रीयता
Opposition	विरोध
Organ	मुखपत्र
Parliamentary	परिषदात्मक सरकार
Party	दल
Patriotism	देशभक्ति
Plural voting	बहुमत प्रदान
Politics	राजनीति

Population	जनसंख्या
Preliminary	प्राथमिक
Presidential Govt.	अध्यक्षात्मक सरकार
Principle	सिद्धान्त
Problem	समस्या
Pronouncement	विज्ञप्ति
Propaganda	प्रचार
Qualification	गुण, योग्यता
Reactionary	प्रतिक्रियात्मक
Realism	यथार्थवाद
Red-tapism	आफिसरी ढंग
Re-election	पुनर्निर्वाचन
Representation	प्रतिनिधित्व
Republic	गणतन्त्र
Revolution	क्रान्ति
Rigid constitution	दुष्परिवर्त्तनशील शासन-पद्धति
Sacrifice	त्याग
Scheme	योजना
Secondary	गौण
Second Chamber	दूसरी सभा
Socialism	साम्यवाद
Sociology	समाज-शास्त्र
Society	समाज
Sovereign	प्रभु

Sovereignty	प्रभु-सत्ता
State	राज, राष्ट्र
Statistics	आंकड़े
Subordinate	आश्रित
Suffrage	मताधिकार
Syndicalism	संघवाद
System	पद्धति
Terrorism	आतंकवाद
Theory	सिद्धान्त
Tribe	उपजाति
Tyranny	कठोर शासन
Tyrant	अत्याचारी
Unconstitutional	अवैध
Unification	एकीकरण
Uniformity	एकरूपता
Unitary Government	एकात्मक सरकार
Universal	विश्वव्यापी
Unlawful	गैर कानूनी
Upper house	ऊपरली सभा
Utopian	काल्पनिक रामराज्य
Violence	हिंसा
Vote	मत, वोट
World Empire	विश्व-साम्राज्य
Written Constitution	लिखित विधान

